ISSN 2229-6328

भाग - त्रयस्त्रिंश : प्रथम द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिक शोध पत्रिका



उपनिषदों में विविध विद्याएँ

संयुक्ताङ्क - तृतीय भाग

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प० पू० स्व० स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक-शोधपत्रिका

भागः त्रयस्त्रिंश, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड (वि०सं० २०७६)

उपनिषदों में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जनवरी २०१८ - जून २०१८ **मूल्य २००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व० माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ०प्र० ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी
भोला, मेरठ- २५०५०१ (उ०प्र०)
दूरभाष : ८००६७०२५५१
अणुवाक् :pavamani86@gmail.com
जालपत्र : pavamani.in

• **पावमानी**- ISSN **२२२९-६३२८**
भाग: त्रयस्त्रिंश, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड
जनवरी २०१८ - जून २०१८

• प्राप्ति स्थान-
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक
रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ०प्र०)

• प्रेरणास्रोत :
प०पू० स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक
स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक
प्रो० सोमदेव शतांशु
दूरभाष : ०९८३७६४७४२७
डॉ० वाचस्पति मिश्र
दूरभाष: ०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२० गते
• **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२० गते
• **युगाब्द** ५१२१
• **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

सब सत्य विद्या और जो पदार्थ–विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है, स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह समुद्घोष समस्त आर्यों का सर्वमान्य सिद्धान्त है। वेद स्वतः प्रमाणभूत, सर्वार्थ-प्रकाशक, निरतिशय पुरुषार्थ के प्रति अत्यन्त उत्साहपूर्वक उपायों का मार्ग अनुसन्धान करने पर भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा न जाने जा सकने वाले तत्त्व के उपदेश में प्रवृत्त होते हैं। निरतिशय पुरुषार्थ मोक्ष ही है, अन्य नहीं ; अतः मोक्ष के ही प्रतिपादन में वेदों का तात्पर्य है, ऐसा समझना चाहिए। **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (कठोपनिषत् १.२.१५)** इत्यादि श्रुतियां तथा **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (श्रीमद्भगवद्गीता १५.१५)** इत्यादि स्मृतियां भी इसी रहस्य का प्रतिपादन करती हैं।

वस्तुतः समस्त वैदिक साहित्य में जहाँ जहाँ आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का वर्णन आता है, वहां ज्ञानकाण्ड समझना चाहिए। महर्षि वेदव्यास उत्तर मीमांसा रूप वेदान्तशास्त्र के प्रणेता होने से ज्ञानकाण्ड के प्रधान विचारक माने जाते हैं। विवेक, वैराग्य, शमादि साधनों से सम्पन्न मुमुक्षु के लिये मोक्ष के साधनभूत ब्रह्मविद्या के साक्षात् प्रतिपादनार्थ ज्ञानकाण्डस्वरूप वेदवाणी प्रवर्तित होती है तथापि इसमें कोई दो मत नहीं कि उपनिषद् वैदिक वाङ्मय का ज्ञानकाण्ड हैं। वेदों का अंतिम भाग होने के कारण इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों में ही वेद का सर्वोत्कृष्ट सारतत्त्व और प्रधान लक्ष्य निहित है। मानव जीवन का लक्ष्य पारमार्थिक सत्य का ज्ञान प्राप्त करना है, जिसके लिए उपनिषद् प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं। उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के अंतर्गत ब्रह्मयज्ञ के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। उपनिषद् हमारे लिए उस आध्यात्मिक प्रकाश का साधन हैं, जिससे परम सत्य का स्वरूप उद्घाटित होता है एवं मानव का मन निर्मल होता है। उपनिषदों का विषय बहुत गूढ़, जनसाधारण की समझ से परे और अनेक शंकाओं को दूर करने वाला है। उपनिषदों का ज्ञान रहस्यमय और गुह्य है।

उपनिषद् नाम के निर्वचन उसके मूल स्वरूप एवं विषय के सम्यक् अभिव्यञ्जक हैं। उपनिषद् शब्द का अर्थ है -गुरु के समीप रहस्य ज्ञान की प्राप्ति की लिए नीचे बैठना। तात्पर्य यह है कि उपनिषद् वह विद्या है जो योग्य अन्तेवासी शिष्य द्वारा गुरु के अत्यंत निकट बैठकर प्राप्त की जाती है, क्योंकि वह अत्यंत गुप्त और गूढ़ है। उपनिषद् भाष्यकार आद्य शंकराचार्य के अनुसार उपनिषद् शब्द उप और नि उपसर्गपूर्वक सद् (विशरण, गति और अवसादन) धातु में क्विप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है और इसका शाब्दिक अर्थ है ब्रह्मविद्या, जो परिशीलन द्वारा मुमुक्षुजनों की संसारबीजभूता अविद्या का विनाश (विशरण) करती है, जो उन्हें ब्रह्म के पास पहुँचा देती है और जो उनके पुनर्जन्म करने वाले कर्मों तथा गर्भवास आदि दुःखों को सर्वथा शिथिल कर देती है।

सामान्यतः वैदिक साहित्य नाम से वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का ही स्मरण होता है। उपनिषदों की वैदिकता के सम्बन्ध में वानप्रस्थ प्रकरण में मनु महाराज कहते हैं -

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।

विविधाश्चौपनिषदीरात्मंससिद्धये श्रुतीः॥ (मनु० ६ .२८)

उपनिषद् साहित्य बहुत विशाल है क्योंकि यह बहुत बाद तक विकसित होता रहा है। इनकी संख्या विद्वजनों में मतभेद का विषय है। मुख्य रूप से ग्यारह उपनिषद् सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माने जाते हैं। उपनिषदें वेदान्ततत्त्व की प्रतिपादिका होने से विशेष श्रद्धेय हैं।

मनुष्य सांसारिक दुःखों से संतप्त होकर सृष्टि के आदिकाल से परमशान्ति तथा शाश्वत सुख की खोज करता रहा है। सांसारिक भोगों के सुख क्षणिक तथा नश्वर होते हैं। उनमें शाश्वत-सुखों की आशा करना मरु-मरीचिकाओं में जल समझने के समान ही है। सांसारिक भोगों को भोगते-भोगते मानव समस्त जीवन बिता देता है, किन्तु परम सुख प्राप्त नहीं होता। महाराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि **भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः,** अर्थात् जीवन समाप्त हो जाता है परन्तु भोग-कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। मनु जी के शब्दों में भोगों को भोगने से कभी वासनाओं की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत कामनाओं की वैसी ही वृद्धि होती है, जैसे- घृतादि से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है। धन-धान्यादि से सम्पन्न देश इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं

कि उन देशों में भौतिक सुखों की न्यूनता न होते हुए भी सुख व शान्ति कहाँ? उपनिषत्कार ने ठीक ही कहा है कि **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः (कठोप०२.२७)** अर्थात् मनुष्य सांसारिक धनों या पदार्थों से कभी तृप्त नहीं हो सकता। अतः समस्त वैदिक दर्शनों का भी यही लक्ष्य रहा है कि शाश्वत-सुख मोक्ष कैसे उपलब्ध हो सके?

संसार की प्राचीनतम पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेदों में मोक्ष-प्राप्ति या परम सुख का उपाय शुद्धान्तः करण होकर धर्मानुष्ठान करते हुए परब्रह्म का जानना ही है। परब्रह्म को जानकर ही मृत्यु दुःखों से पार होकर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इससे भिन्न और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि उस परमब्रह्म का आश्रय (शरण) अमृत= मोक्ष सुखप्रद है और जिसकी अकृपा या उपासना न करना ही मृत्यु दुःखों का कारण है, उस परब्रह्म को जानने व प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनियों ने जीवन भर तपस्यारत होके जो ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) प्राप्त किया है, उसी का संग्रह उपनिषद ग्रन्थों में है, अतः ये ब्रह्मज्ञान के उत्कृष्टतम ग्रन्थ भी माने जाते हैं। पावमानी विगत तीन अंकों से औपनिषद ज्ञान गंगा को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास कर रही है। पावमानी के प्रस्तुत अंक में भी उपनिषद् ज्ञान की कुछ अमृत कणिकाएं आपके करारविन्दों तक पहुंचाने का प्रयास है। आशा है, सुधीजन उसका पान कर अमृतत्व के आस्वाद की अनुभूति कर पायेंगे। इसी आशा के साथ...

सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

उपनिषद् साहित्य में भेदोपासना तथा अभेदोपासना का स्वरूप

प्रो० एल.के.गौड़[1]

'उपनिषद्' शब्द उप+नि+सद् विशरणे धातु से निष्पन्न होता है। **षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु** के आधार पर सद् का अर्थ नष्ट होना होता है। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या अविद्या को नष्ट करती है, यह विशरण का वास्तविक आशय है। वामन शिवराम आप्टे ने "**उपनिषद्**" शब्द को इस प्रकार व्युत्पन्न अभिहित किया है उप-नि+सद्+क्विप् अर्थात् ब्राह्मण-ग्रंथों के साथ संलग्न कुछ रहस्यवादी रचना, जिसका मुख्य उद्देश्य वेद के गूढ़ अर्थ का निश्चय करना है। यहाँ उद्धृत व्युत्पत्ति निम्नवत् है- **उपनीय तदात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः। निहन्त्यविद्या तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत्।**[2] साहित्य वह है जिसमें हितकारी भावों की कल्पना की जाए- **'हितेन सह इति सहितम् तस्य भावः साहित्यम्'।** शब्द और अर्थ तथा विचार और भाव की पारस्परिक अनुकूलता के साथ सह-भाव ही साहित्य है।[3]

उपनिषद् साहित्य में परमात्मा की प्राप्ति हेतु उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्यों के द्वारा अनेक युक्तियों से विविध साधन निगदित किये गये हैं, उनमें से किसी एक साधन के अनुरूप संलग्न होकर अनुष्ठान करने पर मनुष्य को परम तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदों में कथित समस्त साधन भेदोपासना और अभेदोपासना इन दो उपासनाओं के अन्तर्गत गणित होते हैं। भेदोपासना के दो प्रकार हैं- प्रथम तो वह है, जिसमें साधन में भेदभावना रहती है और फल में भी भेदरूप ही

---

[1] **संस्कृत विभागाध्यक्ष, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र**

[2] वी.एस.आप्टे- संस्कृत-हिन्दीकोश, पृ. २०६

[3] राजशेखर, काव्यमीमांसा २/५

रहता है और द्वितीय वह, जिसमें साधन काल में तो भेद रहता है, परन्तु फल में अभेद होता है।

प्राथम्येन भेदोपासना विवेच्य है। भेदोपासना के अन्तर्गत तीन पदार्थ माने जाते हैं- १.माया २.जीव ३.परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदों में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। प्रकृति जड़ है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् तथा परिणामी है। जीवात्मा और परमेश्वर दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दरूप हैं, किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। जीवात्मा असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ है। जीवात्मा अंश है तथा परमेश्वर अंशी है। जीवात्मा भोक्ता है तथा परमात्मा साक्षी है। जीव उपासक है तथा परमेश्वर उपास्य है। केनोपनिषद् में इतिहास मिलता है कि एक बार परमात्मा के प्रताप से देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त की। स्वर्ग के समस्त देव अज्ञानवश अभिमान से यह अंगीकृत कर बैठे कि उनके प्रभाव से ही विजय प्राप्त हुई है। देवों के इस अज्ञानपूर्ण अभिमान को दूर करने के लिए तथा उनके हितसाधनार्थ परमात्मा देवों के समक्ष साक्षात् यक्षरूप में प्रकट हुए। यक्ष का परिचय जानने हेतु इन्द्रदेव ने पहले अग्नि को भेजा। यक्ष ने अग्नि का सामर्थ्य पूछकर उन्हें एक तिनका जलाने को कहा। अग्निदेव वह तिनका नहीं जला सके। क्रमशः मातरिश्वा वायु उस तिनके को उड़ाने में असमर्थ रहे। इंद्रदेव के वहाँ पहुंचने पर यक्ष अन्तर्धान हो गए। उसके पश्चात् उमा देवी के उपदेश से इन्द्रदेव ने यह अधिगत कर लिया कि यक्ष ब्रह्म है। पुनः अग्नि और वायु देवों ने भी उस ब्रह्म को जान लिया। इन देवों ने ब्रह्म को सर्वप्रथम जाना। अस्तु, इन्द्र, अग्नि और वायु देवों में श्रेष्ठ माने गए। उक्त प्रकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समस्त प्राणिजात में जो भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, वह सब परमेश्वर का तेज है। श्रीमद् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है-

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥[4]

अर्थात् तुम समझ लो कि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग मात्र से उद्भूत हैं ।

---

[4] श्रीमद्भगवद्गीता १०/४१

इस भाँति उपनिषदों में कुत्रचित् साकार तथा अपरत्र निराकार रूप से, सगुण और निर्गुण रूप से भेदोपासना का उल्लेख मिलता है। वहीं यह भी निगदित है कि उपासक अपने उपास्य देव की जिस भावना से उपासना करता है, उसके उद्देश्य के अनुरूप ही उसकी कार्यसिद्धि सम्भव हो जाती है।

कठोपनिषद् में सगुण तथा निर्गुण रूप ओंकार की उपासना भेदरूप से वर्णित करते हुए यमराज नचिकेता को बताते हैं-

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥[5]

अर्थात् निश्चयेन यही अक्षर ब्रह्म है। यह ही परम पद है। इसी ओंकार को जानकर जो व्यक्ति जो कुछ चाहता है उसको वही प्राप्त हो जाता है। इसी विषय को महत्वपूर्ण बताते हुए यमराज कहते हैं-

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥[6]

अर्थात् इस नाम का आश्रय परम है। इस नाममय को जानकर तथा धारण करके जीव ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

अस्तु कल्याण की कामना करने वाले मनुष्य को इस दुःखरूप संसार सागर से सदा के लिए उत्तीर्ण होकर परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए ही उनकी उपासना करनी चाहिए, जागत्क पदार्थों के लिए नहीं। वह परमात्मा इस शरीर के अन्दर सबके हृदय में निराकार रूप से सदा स्थित है, परन्तु उसको न जान पाने के कारण लोग दु:खी रहते हैं। जो व्यक्ति उसे उपासना द्वारा अधिगत कर लेता है, वह समस्त दु:खों से छूट जाता है। ईशोपनिषद् का वचन भी इस तथ्य की पुष्टि करता है-

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[7]

---

[5] कठोपनिषद् १/२/१६

[6] कठोपनिषद् १/२/१७

[7] ईशावास्योपनिषद् ११

अर्थात् जो विद्या को और अविद्या को तथा उन दोनों को एक साथ जानता है, ज्ञान कर्म को एक साथ साधना में लाता है, ज्ञानपूर्वक कर्म करता है और कर्त्तव्यकर्मयुक्त ज्ञान की वृद्धि करता है, वह कर्त्तव्यकर्म से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत मोक्ष को प्राप्त होता है। वेद का मन्त्र इस तथ्य में प्रबल प्रमाण है-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥[8]

अर्थात् अन्धकार से परे आदित्य के समान प्रकाशमान इस बड़े पुरुष को मैं जानता हूँ। इस पुरुष को जानने से ही उपासक मृत्यु के परे जाता है। मृत्यु के परे जाने के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। मुण्डकोपनिषद् कहती है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति॥[9]

एक वृक्ष पर दो सुन्दर पंखों वाले पक्षी बैठे हैं। वे दोनों पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर सखाभाव से रहते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के कर्मरूप फल का स्वाद लेकर उपभोग करता है, परन्तु दूसरा फल को न खाता हुआ देखता रहता है। इस देहरूपी समान वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा गहन आसक्ति में निमग्न है तथा असमर्थता रूप दैन्य को अनुभूत कर मोहित हुआ शोक करता है, किंतु कदाचित् जब भी स्वयं से भिन्न परमेश्वर एवं तन्महिमा का प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह सर्वथा शोकरहित हो जाता है। तत्पश्चात् दिव्य प्रकाशस्वरूप आनन्द को प्राप्त करता है-

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥[10]

उपनिषत्परम्परा में श्वेताश्वतरोपनिषद् में भेदरूपेण उपासना का विस्तीर्ण वर्णन प्राप्त होता है । संक्षिप्ततया सूच्य है-

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहतोऽस्य जन्तोः॥
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥[11]

---

[8] यजुर्वेद ३१/१८

[9] मुण्डकोपनिषद् ३/१

[10] मुण्डकोपनिषद् ३/२

वह परमात्मा सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म तथा बड़े से बहुत बड़ा इस जीव की हृदयरूपी गुफा में छिपा हुआ है। सर्वस्रष्टा परमेश्वर की कृपा से जो मनुष्य उस संकल्प विकल्प से रहित परमेश्वर वा उसकी महिमा को देख लेता है, वह सर्वविध कष्टों से मुक्त होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। अन्यच्च-

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥[12]

प्रकृति के ही अंगभूत कारणकार्यसमुदाय से यह समस्त जगत् व्याप्त हो रहा है। जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकाल में विलीन हो जाता है, उस परमतत्त्व को जानकर मनुष्य शाश्वती शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥[13]

वह एक ही देव सब प्राणियों में गूढरूप से विद्यमान है, सबके कर्मों का अधिष्ठाता, निवास स्थान, साक्षी, चेतन तथा निर्गुणस्वरूप है।

भेदोपासना के अन्तर्गत शास्त्रों में चार प्रकार की मुक्ति अभिहित की गयी है- १. सालोक्य २. सामीप्य ३.सारूप्य और ४.सायुज्य। एतदतिरिक्त जो वैर से, द्वेष से अथवा भय से भगवान् को भजते हैं, वे भी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार जल शुद्ध जल में मिलकर विलीन हो जाता है, एवमेव इस प्रकार के साधक भगवान् में लीन होकर भगवद्रूप ही हो जाते हैं। ऐसा ही उपदेश कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को देते हैं-

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥[14]

जिस प्रकार निर्मल जल में मेघों द्वारा वृष्टि रूप में गिराया गया निर्मल जल वैसा ही

---

[11] श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१७

[12] श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०

[13] श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११

[14] कठोपनिषद् २/१/१५

हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशोद्भव नचिकेतः! परब्रह्म को जानने वाला परमेश्वर को प्राप्त होकर तद्रूप हो जाता है।

मुण्डकोपनिषद् की शिक्षा है-

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥[15]

जो मनुष्य निष्काम रह कर विशुद्ध प्रकाशमान परम धाम ब्रह्मधाम को जान लेता है, वह बुद्धिमान् रजोवीर्यमय जगत् को अतिक्रान्त कर जाता है। इसके अनुरूप ही अन्य दृष्टान्त में विवेचन है-

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति।

तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।[16]

जिस प्रकार नदियाँ नाम रूप छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् महात्मा नाम रूप को छोड़कर परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, उसके कुल में सभी ब्रह्म को जान लेते हैं। वह शोक से पार उतर जाता है। वह जन्म मृत्यु से रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वर को भिन्न मानकर उपासना करता है तथा यह समझता है कि यह प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है, ऐसा व्यक्ति भेद रूप से उपासना करता हुआ परमात्मा के अभेद रूप को प्राप्त हो जाता है। माया की निवृत्ति हो जाती है।

अभेदोपासना के भी प्रधानतया चार भेद हैं। तत् और त्वम् पद को दृष्टि में रखकर भेद प्रदर्शित किए गए हैं १. इस चराचर जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है। कोई भी वस्तु उससे भिन्न नहीं है, यह मानकर उपासना करनी चाहिए। २. वह निर्गुण निराकार निर्विकार परमात्मा इस क्षणभंगुर दृश्यमान माया रूप जड़ जगत् से सर्वथा अतीत है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। ३. यह स्थावर जंगम जगत् ब्रह्म है और

---

[15] मुण्डकोपनिषद् ३/२/१

[16] वही ३/२/८,९

वह ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार उपासना की जानी चाहिए। ४. वह नाशवान् क्षणभंगुर मायामय दृश्यमान निर्विशेष परमात्मा का मैं अंश हूँ, इस प्रकार उपासना की जानी चाहिए।

ऐसे बिन्दुओं पर सप्रमाण विचारसरणी प्रस्तुत की जानी अपेक्षित है।

सृष्टि के प्रारम्भ में सच्चिदानन्द परब्रह्म ही था। उसके मन में विचार आया कि मैं प्रकट होऊँ। मैं अकेला हूँ अनेक रूपों वाला हो जाऊँ- **सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेति।**[17] ब्रह्म एक होते हुए भी अनेक रूपों में हो गया। अस्तु! स्थावर जंगम जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है । श्रुति का कथन है-

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥[18]

यह अमृतमय ब्रह्मस्वरूप ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, दायीं, बाईं तथा नीचे ऊपर विस्तीर्ण जगत् ब्रह्म ही है।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।[19]

यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा यह जो चार चरणों वाला आत्मा है, यह भी परब्रह्म परमात्मा है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानीति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत।[20]

यह समस्त जगत् निश्चय से ब्रह्म है। उपासना में जो अध्यात्म सूर्य प्रतीत होता है वह निश्चय ही ब्रह्म है। शान्त होकर ब्रह्म को 'तज्ज, ल, अन' ऐसी आराधना करे। यह जाने कि यह जगत् तत्-ज उससे उत्पन्न हुआ है। ल उसी में लय होगा। अन उसी से जीवित है। ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लीनता होती है और निश्चय ही यह पुरुष संकल्पमय है, यह जाने। जैसा संकल्प वाला मनुष्य इस लोक में होता है वैसा ही

---

[17] तैत्तिरीयोपनिषद् २/६

[18] मुण्डकोपनिषद्

[19] माण्डूक्योपनिषद् , २

[20] छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१

मरकर दूसरे लोक में होता है। गति संकल्पानुसार होती है, ऐसा जानकर शान्त पुरुष संकल्प करे। दृढ़ निश्चय तथा विश्वास करे। कठोपनिषद् में परब्रह्म के स्वरूप को वर्णित करते हुए यमराज कहते हैं-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥[21]

जो परब्रह्म रूप, रस, गन्ध, स्पर्शरहित है तथा अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है । तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णन है-

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।[22]

ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, उसी भाव को व्यक्त करने वाली यह श्रुति कही गयी है- ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है। श्रीमद् भगवद्गीता में उल्लेख प्राप्त होता है-

सर्वभूतस्थमात्मानं भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः॥[23]

ईशावास्योपनिषद् में भी ऐसा वर्णन है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥[24]

जो सभी प्राणियों में स्वयं को तथा स्वयं में सभी प्राणियों को देखता है, वह मनुष्य किसी से घृणा नहीं करता।

इस प्रकार उपनिषदों में जो उपाय निगदित हैं, उन सब का फल अन्ततः एक ही परिणाम में है कि वह परब्रह्म अनिर्वचनीय है तथा वर्णनातीत है। भेद और अभेद उपासनाओं में भी उसे संकेतित किया जा सकता है।

---

[21] कठोपनिषद् १/३/१५

[22] तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/१

[23] श्रीमद्भगवद्गीता ६/२९

[24] ईशावास्योपनिषद् ६

माण्डूक्योपनिषदनुसार ओ३म् का स्वरूप

डा० देवीसिंह
एवं गोस्वामी गणेशदत्त[1]

'ओ३म्' शब्द भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनधारा का मुख्य आधार है। यह ईश्वरभक्ति, शक्ति, अच्छाई और आदर का प्रतीक है। प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। जैसे हिन्दू इसका प्रयोग अपने सभी वैदिक मन्त्रों तथा भजनों में करते हैं। ईसाई और यहूदी भी इसके जैसा प्रयोग **'ओमेन'** कहकर धार्मिक सहमति दिखाने के लिये करते हैं, मुस्लिम **'आमीन'** शब्द का प्रयोग करते हैं तथा सिख भी **'इक ओंकार'** कहकर पुकारते हैं। **'ओ३म्'** शब्द के उच्चारण में जिस शान्ति का अनुभव होता है, वह किसी अन्य शब्द के उच्चारण में नहीं है। यही कारण है कि आजकल योग कक्षाओं में भी इसी शब्द के उच्चारण का अभ्यास मानसिक तनाव और अवसाद से ग्रस्त लोगों को शान्ति प्रदान करने के लिये किया जाता है। योगसूत्रकार ने **'प्रणव'** शब्द का प्रयोग करते हुये **'ओ३म्'** की ओर ही संकेत किया है- **तस्य वाचकः प्रणवः'**[2] **(प्रकर्षेण नूयते स्तूयते इति प्रणवः) अर्थात् जिस शब्द के द्वारा उत्कृष्ट रूप से स्तुति की जाती है, वह प्रणव कहलाता है।** 'प्रणव' शब्द से यहाँ 'ओ३म्' शब्द अभिप्रेत है। **'अव्'** धातु से **'ओम्'** शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ 'रक्षक' है। वेद में भी 'ओ३म्' शब्द के लिये कहा गया है कि **'ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर'**[3] अर्थात् हे कर्म करने वाले जीव! ओ३म् का स्मरण कर। सभी उपनिषदों ने प्रायः 'ओ३म्' शब्द को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त किया है। किन्तु माण्डूक्योपनिषद् एक ऐसा उपनिषद् है, जिसने 'ओ३म्'

[1] **सनातन महाविद्यालय, चण्डीगढ़**

[2] योगसूत्र १.२७

[3] यजुर्वेद ४०/१७

शब्द की व्याख्या विस्तृत रूप से की है। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही कहा गया है-

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव[4] अर्थात् 'ओ३म्' ऐसा यह अक्षर अविनाशी परमात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। भूत, वर्तमान, और भविष्यत् या इनसे भी अतीत जो दूसरा कोई तत्त्व है वह भी ओंकार ही है तथा यह सबका सब ब्रह्म है जो चार चरणों वाला है।[5] वे चार पाद हैं वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा अद्वैत पूर्ण ब्रह्म परमात्मा।

वैश्वानर- परब्रह्म परमात्मा के प्रथम पाद को समझाते हुए उपनिषद् कहता है कि जैसे जाग्रत अवस्था में इस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा सिर से लेकर पैर तक सात अङ्गों से युक्त होकर दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्त:करण, इन उन्नीस मुखों से विषयों का उपभोग करता है और उसका विज्ञान बाह्य जगत् में फैला रहता है, उसी प्रकार सात लोक रूप सात अङ्गों एवं समष्टि इन्द्रिय, प्राण तथा अन्त:करण- इन उन्नीस मुखों से युक्त इस स्थूल जगत् रूप इस शरीर का आत्मा- जो सम्पूर्ण देवता, पितर, मनुष्य आदि सभी जीवों का प्रेरक और स्वामी होने के कारण इस स्थूल जगत् का ज्ञाता और भोक्ता है, जिसकी उपस्थिति इस बाह्य स्थूल जगत् में हो रही है- वह वैश्वानर उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का पहला पाद है।[6] जो विश्व अर्थात् बहुत भी हो और नर भी हो, उसे वैश्वानर कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थूल जगद्रूप शरीर वाले परमेश्वर को वैश्वानर कहा गया है। ब्रह्मसूत्र में भी स्पष्ट किया गया है कि आत्मा और ब्रह्म इन दोनों का वाचक जहाँ 'वैश्वानर' पद आये, वहाँ वह जीवात्मा या अग्नि न होकर परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है।[7]

तैजस- स्वप्न की भाँति सूक्ष्म जगत् ही जिसका स्थान है, जिसका ज्ञान

---

[4] माण्डूक्योपनिषद्, मन्त्र संख्या १

[5] सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्मसोऽयमात्मा चतुष्पात्। - वही २

[6] जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। वही ३

[7] वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्, ब्रह्मसूत्र १/२/२४

संकल्पमय सूक्ष्म जगत् में व्याप्त है, सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला, सूक्ष्मजगत् का भोक्ता, तैजस अर्थात् प्रकाश का स्वामी हिरण्यगर्भ उस परब्रह्मपरमात्मा का दूसरा पाद है।[8] भाव यह है कि जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में सूक्ष्मशरीर का अभिमानी जीवात्मा सूक्ष्म सात अंगों वाला, उन्नीस मुखों वाला होकर सूक्ष्मविषयों का उपभोग करता है, उसी प्रकार जो स्थूल अवस्था से भिन्न सूक्ष्मरूप में परिणत हुए सात लोकरूप सात अंग तथा इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण रूप उन्नीस मुखों से युक्त सूक्ष्म जगत् रूप शरीर में स्थित, उसका आत्मा हिरण्यगर्भ है, वह सूक्ष्म जगत् के समस्त तत्त्वों का नियन्ता, ज्ञाता और भोक्ता है, वह तैजस अर्थात् सूक्ष्म प्रकाशमय हिरण्यगर्भ पूर्णब्रह्म परमात्मा का दूसरा चरण है।

प्राज्ञ- यह उस पूर्णब्रह्म परमात्मा का तृतीय पाद है-

"यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।[9] अर्थात् सोया हुआ व्यक्ति जिस अवस्था में किसी भी प्रकार के भोग की न तो कामना करता है और न ही अनुभव करता है तथा कोई स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्था के समान जो जगत् की प्रलयावस्था अर्थात् कारणावस्था है, जिसमें नाना रूपों का प्राकट्य नहीं हुआ है- ऐसी अव्याकृत प्रकृति ही जिसका शरीर है, जिसका एकमात्र चेतना (प्रकाश) ही मुख है और आनन्द ही भोजन है, वह विज्ञानस्वरूप, आनन्दमय 'प्राज्ञ' ही उस पूर्णब्रह्म परमेश्वर का तीसरा पाद है। **'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन'**[10] **।**

जिस परमात्मा को वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों पादों का वर्णन किया है, वह सबका ईश्वर है, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और सम्पूर्ण जगत् का कारण है, क्योंकि सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का स्थान यही पूर्णब्रह्म परमात्मा है।[11]

---

[8] स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः। - माण्डूक्योप. ४

[9] माण्डूक्योपनिषद् ५

[10] ब्रह्मसूत्र १/३/४२

[11] एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। माण्डूक्योप. ६

अद्वैत पूर्णब्रह्म परमात्मा- जो निर्गुण-निराकार निर्विशेष है वही अद्वैत पूर्णब्रह्म परमात्मा है-

"नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमे कात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"[12] अर्थात् जिसका ज्ञान न तो बाहर की ओर है न भीतर की ओर और न दोनों ही ओर, जो न ज्ञानस्वरूप है, न जानने वाला है और न नहीं जानने वाला ही है, जो न दिखाई देता है, न व्यवहार में लाया जा सकता है, न ग्रहण करने में, न चिन्तन करने में, न बतलाने में, न जिसका कोई लक्षण है, जिसमें समस्त प्रपञ्च का अभाव है, एकमात्र परमात्मसत्ता की प्रतीति ही जिसमें प्रमाण है- ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व पूर्णब्रह्म परमेश्वर का चतुर्थ पाद है। इस प्रकार चार पादों में जिसका विभाग करके वर्णन किया गया है वही पूर्णब्रह्म परमात्मा है, जो जानने योग्य है।

यही परब्रह्म परमात्मा प्रणव के अधिकार में वर्णित होने के कारण 'अकार', 'उकार' और 'मकार' इन तीनों मात्राओं से युक्त 'ओ३म्' कहा गया है।[13] ये तीन मात्राएँ ही ओंकार के वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ नामक तीन पाद हैं, क्योंकि परमात्मा विशेषण युक्त ओंकार की जो प्रथम मात्रा 'अ' है, वह समस्त जगत् के नामों में व्याप्त है। सभी वर्गों में 'अ' ही प्रथम वर्ण है। इसी प्रकार स्थूल जगत् रूप विराट् शरीर में वैश्वानर रूप परमेश्वर व्याप्त है तथा विराट् रूप से सबके पहले स्वयं प्रकट होने के कारण इस जगत् का आदि भी परमेश्वर ही है। इस प्रकार 'अ' की और जगत् की भाँति प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले इस स्थूल जगत् रूप शरीर में व्याप्त 'वैश्वानर' नामक प्रथम पाद की एकता होने के कारण 'अ' ही पूर्णब्रह्म परमात्मा का प्रथम चरण है। जो व्यक्ति इस प्रकार अकार और परमेश्वर की एकता को जानता है और उसकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण भोगों अर्थात् इष्ट पदार्थों को प्राप्त कर लेता है तथा

---

[12] माण्डूक्योप. ७

[13] सोऽयमात्माध्यसरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। - वही ८

सबका प्रधान बन जाता है।[14]

ओंकार की जो द्वितीया मात्रा 'उ' है वह 'अ' से उत्कृष्ट होने के कारण श्रेष्ठ है तथा 'अ' और 'म्' के बीच में होने के कारण उन दोनों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः यह उभय स्वरूपयुक्त मात्रा है। इसी प्रकार 'वैश्वानर' से 'तेजस' उत्कृष्ट है तथा 'वैश्वानर' और 'प्राज्ञ' के बीच में होने के कारण उभय सम्बन्धी भी है। भाव यह है कि स्थूल जगत् की उत्पत्ति से पूर्व परमात्मा के आदि संकल्प द्वारा जो सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है, उस सूक्ष्म जगत् रूप शरीर में चेतनप्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ परमेश्वर इसके अधिष्ठाता होकर रहते हैं तथा कारण जगत् और स्थूल जगत् इन दोनों से ही सूक्ष्म जगत् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये तो (परमेश्वर) धारण और स्थूल दोनों रूप वाले हैं। तैजस रूप दूसरे पाद से समानता होने के कारण 'उ' ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का दूसरा पाद है। जो व्यक्ति इस 'उ' और तैजस की एकता के रहस्य को समझ लेता है वह जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को भली भाँति प्रत्यक्ष कर लेता है और उसके कुल में कोई भी हिरण्यगर्भरूप परमेश्वर को न जानने वाला नहीं होता।[15]

'मकार' ओंकार की तीसरी मात्रा है, जो मा धातु से बना है, जिसका अर्थ 'माप लेना' अर्थात् समझ लेना है। ‘अ’ और ‘उ’ के पश्चात् उच्चरित होने के कारण इन दोनों का माप इसमें आ जाता है, अतः यह उन दोनों को जानने वाला है। 'म्' का उच्चारण करते-करते मुख बन्द हो जाता है तथा 'अ' और 'उ' उसमें विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार सुषुप्त स्थानीय कारण जगत् का अधिष्ठाता प्राज्ञ भी इन तीनों अवस्थाओं में स्थित जगत् को जानने वाला है, क्योंकि कारण-जगत् से ही सूक्ष्म और स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है और उसी में उनका लय होता है।[16]

इस प्रकार ‘म्’ की और कारण-जगत् के अधिष्ठाता 'प्राज्ञ' नामक तीसरे पाद की

---

[14] जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद। - वही ९

[15] स्वप्नप्रस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोप्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद। - वही १०

[16] सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद। - वही ११

समता होने के कारण 'म्' रूप तीसरी मात्रा ही पूर्ण ब्रह्म का तीसरा पाद है। जो व्यक्ति 'म्' और प्राज्ञ स्वरूप परमात्मा की एकता को जान लेता है, वह सबको अपने में विलीन करने वाला हो जाता है और सर्वत्र परब्रह्म परमेश्वर को ही देखने वाला बन जाता है। जिस प्रकार 'ओ३म्' के 'अकार' "उकार' और 'मकार' की तीनों पादों के साथ समानता है इसी प्रकार ओंकार के निराकार स्वरूप की परब्रह्म परमात्मा के निर्गुण-निराकार निर्विशेष चतुर्थ पाद के साथ समानता है। जो व्यक्ति इस ओंकार और परब्रह्म परमात्मा अर्थात् नाम और नामी की एकता के रहस्य को जान लेता है, वह आत्मा से आत्मा में अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है।[17]

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि माण्डूक्योपनिषद् में ओ३म् शब्द की व्याख्या हमें विस्तृत रुप में प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है जैसे-श्रीमद्भगवद् गीता में **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**[18] **अक्षराणामकारोऽस्मि**[19] **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः**[20] **ओ३म् तत्सदिति तस्माद् ओ३म् इत्युदाहृत्य**[21] इत्यादि रूपों में वर्णन प्राप्त होता है।

प्रस्तुत शोधपत्र में माण्डूक्योपनिषदनुसार ओ३म् के स्वरूप को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और पूर्णब्रह्म परमात्मा इन स्थूल, सूक्ष्म और कारणिक रूप चतुष्पाद के साथ-साथ अकार, उकार और मकार नामक मात्राओं की संगति की गई है क्योंकि वैश्वानर स्वरूप को समझाते हुए उपनिषद् कहता है कि जैसे जाग्रत् अवस्था में स्थूल शरीर इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरणरूपी मुखों से विषयों का उपभोग करता है, उसी प्रकार स्थूल जगत् रूप इस शरीर का आत्मा भी सभी जीवों का प्रेरक और स्वामी होने के कारण इस स्थूल जगत् का ज्ञाता और भोक्ता है। इसी तरह तैजस का स्थान स्वप्न की

[17] अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद। - वही १२

[18] गीता ८/१३

[19] वही १०/३३

[20] वही १५/१४

[21] वही १७/२३-२४

भाँति सूक्ष्म जगत् है और वह सूक्ष्म जगत् के सभी तत्त्वों का नियन्ता, ज्ञाता और भोक्ता है। सुषुप्ति अवस्था के समान जो जगत् की प्रलय या कारणावस्था है जिसमें नाना रूपों का प्राकट्य नहीं है ऐसी अव्याहत प्रकृति ही जिसका शरीर है, चेतना (प्रकाश) मुख है तथा आनन्द भोजन है वह विज्ञान स्वरूप आनन्दमय प्राज्ञ ही उस परमात्मा का तीसरा पाद है। इन तीनों पादों में जिस परमात्मा का वर्णन किया है वह सभी जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का स्थान है। जो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष है। वही अद्वैत पूर्णब्रह्म परमात्मा है जो पूर्णब्रह्म परमेश्वर अर्थात् ओ३म् का चतुर्थ पाद है। अकार की समानता वैश्वानर रूप स्थूल से की गई है। उकार की तैजस रूप सूक्ष्म से तथा मकार की प्राज्ञ रूप से की गई है। ओंकार के निराकार स्वरूप की परब्रह्म परमात्मा के निर्गुण निराकार निर्विशेष रूप चतुर्थ पाद के साथ समता की गई है। अतः माण्डूक्योपनिषद् में ओ३म् की अ, उ और म् मात्राओं का सामञ्जस्य ओ३म् के चतुष्पाद स्वरूप के साथ करके नाम और नामी की एकता के रहस्य को विस्तृतरूपेण समझाया गया है।

उपनिषद् में प्रकृति अथवा माया

डा० जयप्रकाश नारायण[1]

उपनिषद् भारतीय दर्शनशास्त्र के दर्पण और आध्यात्मिक विज्ञान के प्राणस्वरूप हैं। उपनिषदों को परमेश्वर का उच्छ्वास कहा गया है। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् संख्या में १०८ हैं। मुख्य कहे गए उपनिषद् हैं- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और छान्दोग्य उपनिषद् का उद्देश्य है-

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

सम्प्रति २०० से अधिक उपनिषद् उपलब्ध हैं। उपनिषदों का उद्देश्य जीवात्मा को उसके वास्तविक आत्मस्वरूप का बोध कराना और उसे जन्म-मरणरूप बन्धन से मुक्त कराना है। तृष्णा, ममता और वासना रूप बन्धनों से जकड़ा जीव जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। इन तीनों से छूट जाना ही मोक्ष (मुक्ति) है।

जीवात्मा परमेश्वर का ही सनातन अंश है। उसका वास्तविक स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है। किन्तु माया के वशीभूत होने के कारण जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥[2]

रामचरितमानस में कहा गया है-

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।
सो मायावश भयऊ गुसांई। बन्ध्यो कीट मरकट की नांई।

जीवात्मा अंगुष्ठमात्र परिणाम वाला और सूर्य के समान प्रकाशमय है। संकल्परूप

[1] **उपाचार्य (संस्कृत विभाग), जामिया मिलिया इस्लामिया वि०वि०, नई दिल्ली**

[2] श्रीमद्भगवद्गीता १५/७

बुद्धि के गुण से तथा अंहता एवं ममता रूप अपने गुणों से सम्बद्ध होने के कारण यह सुई की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है, ऐसा ज्ञानिजन मानते हैं।

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमध्ये ह्यपरो दृष्टः॥[3]

जीवात्मा के स्वरूप के बारे मे कहा गया है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के पुनः सौ भाग करने पर जो एक भाग होता है उतना ही स्वरूप है जीवात्मा का। इतना सूक्ष्म होने पर भी वह असीम होने में समर्थ है-

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेय स च अनन्ताय कल्पते॥[4]

जीवात्मा और परमात्मा - ये दोनों ही मानव शरीर में बुद्धिरूपी गुफा में छिपे हुए हैं। ये धूप छाया के समान साथ साथ रहते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। जीवात्मा को परमात्मा से दूर रखने वाली और जीव को बंधन में डालने वाली इन दोनों के मध्य एक तीसरी शक्ति काम करती है, जिसे प्रकृति अथवा ईश्वर की अव्यक्त माया कहा गया है। तुलसीदास ने कहा है-

मैं अरु तोर और ते माया।
जा वश कीन्हे जीव निकाया॥[5]

अहंता, ममता और राग द्वेषादि में जकडें होने के कारण जीव परमार्थ से भटका रहता है। गीता में कहा गया है-

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

---

[3] श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/८ ३

[4] वही ५/९

[5] रामचरितमानस तुलसीदास

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥[6]

माया व्यक्ति को भटकाती है परन्तु परमात्मा को निरन्तर भजने वाले व्यक्ति इस त्रिगुणमयी माया को पार कर जाते हैं।

योगदर्शन में माया के लिए दृश्य शब्द प्रयुक्त हुआ है-

"**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**"[7]।

सत्व, रज, तम ये त्रिगुण एवं इनके कार्य सब दृश्य के अन्तर्गत आते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया को प्रकृति के नाम से वर्णित किया गया है यथा-

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्या अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥[8]

अर्थात् माया ही प्रकृति है। शक्तिरूपी प्रकृति के अंगभूत कार्य-कारण समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। दो पक्षियों के माध्यम से इसे समझाने का प्रयास ऋषि ने किया है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वयनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥[9]

मित्रवत् सर्वदा साथ रहने वाले जीवात्मा और परमात्मा रूप दो पक्षी एक ही शरीररूपी घोंसले में निवास करते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के फलों को स्वाद ले लेकर खाता है और दूसरा उनका भोग नही करता बल्कि साक्षिभाव से देखता रहता है अर्थात् जीवात्मा हर्ष शोकादि का अनुभव करता हुआ कर्मफलों को भोगता है और दूसरा पक्षिरूप परमात्मा इस शरीर में प्राप्त हुए सुख दु:खों का केवल द्रष्टा बना रहता है उन्हें भोगता नहीं है।

गीता में प्रकृति और जीवात्मा का क्षर-अक्षर नामों से वर्णन किया गया है तथा परमात्मा को पुरुषोत्तम कहा गया है।[10] मन, बुद्धि और इन्द्रियों में क्रियाशीलता एवं चेतना उसी परब्रह्म परमेश्वर की प्रेरणा एवं शक्ति से प्राप्त होती है। प्रकृति विनाशशील

---

[6] श्रीमद्भगवद्गीता ७/

[7] योगदर्शन २/१८

[8] श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०

[9] वही ४/१६

[10] श्रीमद्भगवद्गीता १५ वाँ अध्याय

है और जीवात्मा अविनाशी। इन दोनों के संयोग से निर्मित व्यक्ताव्यक्त इस संसार (विश्व) का भरण-पोषण परमेश्वर ही करते हैं। जीवात्मा सांसारिक विषयों का भोक्ता होने के कारण प्रकृति के अधीन असमर्थ होकर उसमें बंध जाता है। परन्तु जब जीवात्मा को परमात्मा का ज्ञान हो जाता है तब वह बन्धनों से मुक्त हो जाता है-

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥[11]

भगवत्कृपा से जीवात्मा योगियों द्वारा सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को और उसकी आश्चर्यमयी महिमा को प्रत्यक्ष देखकर सर्वथा शोकरहित हो जाता है। सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही जीव की मुक्तावस्था है।[12]

सर्वव्यापी परमात्मा योगमाया के आवरण से छिपा हुआ है। ऐसे पुराणपुरुष को निरन्तर ध्यानाभ्यास करने वाला योगी साधक ही प्राप्त कर सकता है और उसे पाने वाला सर्वदा के लिए हर्ष शोक से मुक्त हो जाता है।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥[13]

निर्मल एवं विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही उस परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। उसे जानने वाले साधक परमानन्द स्वरूप बन जाते हैं।[14]

जो साधक विवेकशील बुद्धि को सारथि बनाए रखता है और मनोरूपी लगाम को अपने नियंत्रण में रखता है, वह संसार के बीहड़ मार्ग को पार करता हुआ परमब्रह्म परमेश्वर के परमपद को पाता है।

विज्ञानं सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥[15]

विवेकशील, बुद्धिमान्, संयमी और पवित्र आचरण वाला साधक परमेश्वर के

---

[11] श्वेताश्वतरोपनिषद् १७८

[12] वही ४/७

[13] कठोपनिषद् १/२/१२

[14] कठोपनिषद् २/३/९ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/२०

[15] कठोपनिषद् १/३/९

परमधाम को प्राप्त कर लेता है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समानस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते॥[16]

योगपरायण व्यक्ति ही अपनी तपश्चर्या, सत्य-भाषण तथा ब्रह्मचर्य के पालन से प्राप्त हुए यथार्थ ज्ञान द्वारा परमतत्त्व को देख पाते हैं।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥[17]

उपनिषदों में जगत् जीव ब्रह्म का उपादान माया (प्रकृति) का वर्णन अनेकशः अनेक प्रकार से वर्णित है। संसार माया से आवृत्त है। आज के इस अर्थप्रधान युग में मनुष्य सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता एवं सर्वसमर्थ ईश्वर को भूल-सा गया है। सांसारिक दुःखों को वास्तविक सुख समझकर जीवन मरण के बन्धन में उलझा पडा है। अर्थात् माया के जाल में पडा हुआ है। परन्तु मानव जीवन की वास्तविकता यह है कि वह ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त करने हेतु माया के बन्धन से मुक्त होवें तभी उसके लिए आवागमन के भवसागर से मुक्त होना संभव हो पाएगा। मानव अपने जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष को पा सकेगा।

---

[16] वही १/३/८

[17] मुण्डकोपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद् में वैश्वानर-विद्या

डॉ० अनीता राजपाल[1]

औद्दालक आदि छः मुनि **'को नु आत्मा किं ब्रह्म'**? इस जिज्ञासा के शमन हेतु राजा अश्वपति के पास जाते हैं। अश्वपति ने उनके ज्ञान और उपासनाविधि की जानकारी के लिए प्रत्येक से पूछा कि आप किस 'वैश्वानर' की उपासना करते हो? छहों ने यथाक्रम द्यौ, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी को अपना उपास्य बतलाया।[2] राजा अश्वपति ने वैश्वानर के एक-एक अंग की उपासना-विधि में तत् तत् अंग-भंग का दोष दिखाकर वैश्वानर के स्वरूप का उपदेश दिया।

वैश्वानर की भेदोपासना का शुभ-अशुभ फल

१. द्युलोक में वैश्वानर आत्मा का तेज सुशोभित होता है। इसलिए इस रूप में 'सुतेजा' नाम से भी वैश्वानर जाना जाता है। वैश्वानर आत्मा के इस रूप की उपासना करने वाले के कुल में यज्ञ-यागादि सामग्री - सुत= अभिषुत (निकला हुआ) सोम रूप लता द्रव्य, प्रसुत= विशेष रूप से निकाला हुआ द्रव्य तथा आसुत= सत्र में सर्वतोभावेन निकाला हुआ सोम रस बहुतायत से दिखायी देते हैं।[3] द्युलोक वैश्वानर आत्मा का सिर है। द्युलोक को ही सम्पूर्ण वैश्वानर समझने के दोष के कारण उस उपासक का मस्तक गिर जाता है।[4]

२. आदित्य की वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासना करने पर बहुत-सा विश्वरूप - ऐहिक और पारलौकिक उपकरण (सम्पत्ति) प्राप्त होता है। आदित्य वैश्वानर आत्मा का नेत्र है। आदित्य को ही सम्पूर्ण वैश्वानर आत्मा समझकर उपासना करने वाला अन्धा हो

---

[1] **उपाचार्या, संस्कृत-विभाग, हिन्दू-महाविद्यालय. दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली**

[2] छान्दोग्योपनिषद्, ५. ११-१८ खण्ड

[3] ...मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति। - छान्दोग्योपनिषद्, ५.१२.२

[4] छान्दोग्योपनिषद, ५.१२.१

जाता है।[5]

३. आवह, उद्वह आदि भेदों से विद्यमान जिस वायु के अनेक मार्ग हैं, वह वायु 'पृथग्वर्त्मा' नाम वाला है। पृथग्वर्त्मा वैश्वानर की उपासना करने वाले के पास पृथक् - नाना दिशाओं से वस्त्र एवं अन्नादि रूप उपहार आते हैं तथा पृथक्-पृथक् रथश्रेणियाँ = रथ की पंक्तियाँ भी उसके पीछे चलती हैं। किन्तु पृथग्वर्त्मा वायु वैश्वानर नहीं है, वायु उसका प्राण है। वायु को ही समग्र वैश्वानर समझने वाले के प्राण उत्क्रमण कर जाते हैं।

४. आकाश बहुल संज्ञक होने के कारण वैश्वानर है। सर्वगत होने के कारण तथा बहुल गुण रूप से उपासित होने के कारण आकाश का बहुलत्व (पूर्णत्व) है। आकाश रूप में वैश्वानर की उपासना करने वाला पुत्र, पौत्रादि रूप प्रजा और सुवर्णादि धन से बहुल (परिपूर्ण) देखा जाता है। किन्तु आकाश वैश्वानर का संदेह (शरीर का मध्य भाग) है। आकाश की वैश्वानर रूप में उपासना करने वाला का शरीर नष्ट हो जाता।

५. जल ही रयिसंज्ञक वैश्वानर है। जल से अन्न होता है और अन्न से धन। इसलिए जल रूप में वैश्वानर की उपासना करने वाला रयिवान् अर्थात् धनवान और शरीर से पुष्टिमान् होता है, क्योंकि पुष्टि अन्न के कारण होती है। जल वैश्वानर की वस्ति (मूत्राशय) है। जल को ही सम्पूर्ण वैश्वानर समझकर उपासना करने वाले का मूत्राशय विदीर्ण हो जाता है।

६. पृथिवी प्रतिष्ठासंज्ञक वैश्वानर है। इसकी उपासना करने वाला प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित होता है। पृथिवी वैश्वानर की प्रतिष्ठा (चरण) है। इसकी समस्तबुद्धि से उपासना करने वाले के चरण विशेष रूप से शिथिल हो जाते हैं।

शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार कुछ जन्मान्ध, हाथी के आकार का अनुमान करने लगे तो उनमें से जो पुरुष हाथी के सूंड, शिर, कान अथवा पाद आदि जिस अवयव का स्पर्श करता है, वह उसे ही हाथी का समग्र रूप समझने लगता है। उसी प्रकार वैश्वानर के अवयवों में औपमन्वयादि को समग्र वैश्वानरबुद्धि हो रही है।[6]

---

[5] अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति। - छान्दोग्योपनिषद्, ५.१३.१

[6] शांकरभाष्य, छान्दोग्योपनिषद् , ५.१८.१

वैश्वानर की अभेदोपासना का फल

द्युलोक से लेकर पृथिवी पर्यन्त वैश्वानर के प्रादेशमात्र हैं। जो कोई 'यही मैं हूँ' इस प्रकार समस्त प्राणियों के द्वारा जाना जाता है, इस प्रकार अभिविमान करने वाला, इस प्रादेशमात्र (विराट् रूप) वैश्वानर की उपासना करता है। वह समस्त लोकों में, समस्त प्राणियों में और समस्त आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है।[7] अभिप्राय यह है कि वैश्वानरवेत्ता द्युलोकादि समस्त लोकों में सम्पूर्ण चराचर भूतों में तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप समस्त आत्माओं में उस सर्वात्मा को जानकर अन्न भक्षण करता है। अज्ञानियों के समान पिण्डमात्र में अभिमान करके अन्न नहीं खाता।[8]

माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार 'द्युलोक इसका सिर है' इस श्रुति के अनुसार वैश्वानर से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, इसे व्यापक रूप में जानने वाला सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और महापुरुषों में आदि (प्रधान) होता है।[9]

वैश्वानर का सांगोपांग स्वरूप

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार उसके अंग हैं- वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथक्वर्त्मा (वायु) है, देह का मध्यभाग बहुल (आकाश) है, बस्ति ही रयि (जल) है, पृथिवी ही दोनों चरण हैं।[10]

माण्डूक्योपनिषद् में (यज्ञ में) आहवनीय अग्नि को उसका मुख कहा है। इस प्रकार वह सात अंग और उन्नीस मुख वाला है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राणादि वायु तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये उन्नीस मुख हैं। इन्हें मुख इसलिए कहा गया है क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह शब्दादि स्थूल विषयों को भोगता है।[11]

छान्दोग्योपनिषद् में याज्ञिक प्रक्रिया में आहवनीय अग्नि को वैश्वानर का मुख, वक्षःस्थल को वेदी, वक्षस्थल के लोम को वेदी में बिछे हुए दर्भ, हृदय को गार्हपत्याग्नि और मन को अन्वाहार्यपचन बतलाया गया है।[12]

---

[7] ...यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेश्वात्मस्वन्नमत्ति। - छान्दोग्योपनिषद् १८.१

[8] वैश्वानरवित्सर्वात्मा सन्नन्मत्ति, न यथाज्ञः पिण्डमात्राभिमानः सन्नित्यर्थः। - शांकरभाष्य, छान्दोग्योपनिषद्, ५.१८.१

[9] शांकरभाष्य, माण्डूक्याग्योपनिषद्, ९

[10] छान्दोग्याग्योपनिषद्, ५.१८.२

[11] शांकरभाष्य, माण्डूक्याग्योपनिषद्, ३

[12] छान्दोग्योपनिषद, ५.१८.२

वेदान्त-दर्शन में छान्दोग्योपनिषद् के इस प्रसंग में पूर्वपक्ष की ओर से निम्न शंका उपस्थापित की गयी है -

१. क्या 'वैश्वानर' जठराग्नि है? - 'वैश्वानर' शब्द जाठर (उदरगत) अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है - 'यह वैश्वानर अग्नि है, जो यह पुरुष के भीतर है, जिसके द्वारा खाया हुआ अन्न पचाया जाता है।'[13]

२. क्या वैश्वानर भूताग्नि है? -'सब भुवनों के लिए देवताओं ने वैश्वानर अग्नि (सूर्य) को दिन का चिह्न बनाया,' इत्यादि श्रुति[14] में वैश्वानर शब्द का सामान्यरूप से भूताग्नि (सूर्य) के लिए प्रयोग हुआ है।

३. क्या वैश्वानर अग्नि शरीर वाला देवता है? - '**वैश्वानरस्य सुमतौ**'[15] इत्यादि श्रुति से 'हम वैश्वानर की सुमति (अनुकूल) में रहें, क्योंकि वह सुख देने वाला भुवनों का राजा है और श्री उसके अभिमुख है' ऐश्वर्य आदि युक्त देवता का बोध होता है।

४. क्या वैश्वानर जीवात्मा है? - '**को नु आत्मा किं ब्रह्म**' इस जिज्ञासा में केवल आत्म शब्द का प्रयोग हुआ है, और यह 'आत्म' शब्द अग्नि आदि अन्य अर्थों को छोड़कर जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह जीवात्मा भोक्ता है तथा देह में जठराग्नि के साथ उसका सान्निध्य भी है। दूसरे, श्रुति में प्रयुक्त 'प्रादेशमात्र' पद जीवात्मा में अधिक उपयुक्त है क्योंकि वह परिछिन्न होने से एक सीमित देश में निवास करता है।[16]

समाधान : 'वैश्वानर' पद परमेश्वर का वाचक है

ब्रह्मसूत्रकार के अनुसार 'वैश्वानर आत्मा' से ब्रह्म का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसमें हेतु है - '**साधारणशब्दविशेषात्**'[17] अर्थात् 'वैश्वानर' और 'आत्मा' साधारण शब्द हैं। वैश्वानर जठराग्नि, भूताग्नि और देवता इन तीन अर्थों में प्रयोग किया

---

13 अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते।- बृहदारण्यकोपनिषद्, ५.९

14 विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्। - ऋग्वेद, १०.८८.१२

15 ऋग्वेद, १.९८.१

16 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, १.२.२४

17 वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति। कुतः? साधारणशब्दविशेषात्। - ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, १.२.२४

जाता है। 'आत्मा' शब्द जीवात्मा तथा परमात्मा इन दो अर्थों में समान है, तो भी '**तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः**' उस आत्मा रूपी वैश्वानर का मूर्धा अति तेजस्वी है, इत्यादि विशेष अर्थ देखने में आते हैं । इस प्रकार आत्मा और वैश्वानर शब्द परमेश्वरपरक स्वीकार किये जाते हैं । यदि यहाँ परमेश्वर विवक्षित न हो केवल जठराग्नि ही विवक्षित हो तो '**मूर्धैव सुतेजाः**' यह विशेषण असम्भव हो जायेगा।[18]

शतपथ ब्राह्मण में 'वैश्वानराग्नि' को साक्षात् पुरुष कहा है - 'जो पुरुष सदृश इस वैश्वानराग्नि को पुरुष (जीवात्मा) के भीतर रहने वाला जानता है, वह सर्वत्र भोग करता है।'[19] वैश्वानर का सर्वात्मना होना तथा पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित होना, ये दोनों बातें केवल ब्रह्म में ही उपपन्न हो सकती हैं। अतः यहाँ भी 'वैश्वानर' पद ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, जठराग्नि के लिए नहीं।[20] इन्हीं हेतुओं से वैश्वानर के भूताग्नि तथा देवता विषयक शंका का निराकरण हो जाता है। अर्थात् द्युमूर्धत्वादि धर्म भूताग्नि तथा देवता में सम्भव नहीं हो सकते।[21]

भामतीकार[22] के अनुसार ऋग्वेद[23] में कहा गया है कि जिसने अपने तेज के द्वारा पृथिवी और द्युलोक को व्याप्त किया हुआ है, ऐसी अद्भुत महिमा से सम्पन्न यह भौतिक अग्नि कभी नहीं हो सकती, अपितु ब्रह्म ही ऐसा है - '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'।[24]

छान्दोग्योपनिषद् में वैश्वानर उपासना का फल बतलाया गया है - 'जैसे सींक या कांस पर रूई के समान आया फूल आग के पास आते ही जल जाता है, ऐसे ही उस उपासक के पाप नष्ट हो जाते हैं।[25] उपासना का ऐसा फल तभी सम्भव है, जब वैश्वानर आत्मा को परमेश्वर माना जाए।

शंकराचार्य के अनुसार मुनियों की जिज्ञासापरक '**को नु आत्मा किं ब्रह्मेति**' श्रुति में

---

18 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, १.२.२६

19 पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद। - शतपथ ब्राह्मण, १०.६.१.१

20 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, १.२.२६

21 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, १.२.२७

22 भामती, ब्रह्मसूत्र, १.२.२७

23 यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्। ऋग्वेद -, १०.८८.३

24 मुण्डकोपनिषद्, २.२.१०

25 एवं ह्यऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते। - छान्दोग्योपनिषद्, ५.२४.३

आत्मा और ब्रह्म शब्द का परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है। तथा 'आत्मा' इस शब्द से आत्मा से भिन्न आदित्यादि ब्रह्म के उपास्यत्व की निवृत्ति होती है। अतः दोनों का अभेद होने के कारण आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। अतः सर्वात्मा वैश्वानर ब्रह्म है और वही आत्मा है।[26]

माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है - '**सर्वं ह्येतद् ब्रह्मात्मा ब्रह्म**' अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है, यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। वह यह आत्मा चतुष्पाद् वाला है।[27] यह वैश्वानर, जो विश्व रूप में जाना जाता है, चतुष्पाद् आत्मा का प्रथम पाद है तथा उसकी जागृत अवस्था है। जिसकी अविद्याकृत बुद्धि अपने से भिन्न विषयों में भासती है तथा इसके भोग जगत् के स्थूल पदार्थ हैं।[28] इसी उपनिषद् में वैश्वानर आत्मा का ओंकार की पहली मात्रा अकार के साथ आप्ति अर्थात् व्याप्ति के कारण तादात्म्य स्थापित किया गया है।[29]

परमेश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन अथर्ववेद[30], मुण्डकादि उपनिषद्[31] तथा गीता[32] में भी मिलता है। वाजसनेयी शाखा के आचार्यों ने भी 'वैश्वानर' को साक्षात् पुरुष कहा है तथा जीवात्मा के अन्दर उसे प्रतिष्ठित बताया है।

वैश्वानर का व्युत्पत्त्यर्थ भी परमेश्वरपरक

'**वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा**'[33]। अथवा (i) '**विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः**' सम्पूर्ण नरों को अनेक प्रकार की योनियों में नयन (ले जाने) करने के कारण वैश्वानर है। (ii) '**विश्वान्नरान्नयति पुण्यपापानुरूपां गतिं सर्वात्मैष ईश्वरो वैश्वानरः**' - समस्त नरों को उनके पुण्य-पाप के अनुरूप गति देता

---

26 शांकरभाष्य, छान्दोग्योपनिषद्, ५. ११.१

27 सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्। माण्डूक्याग्योपनिषद्२

28 जागरितस्थानो बहिस्प्रज्ञः.स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। माण्डूक्याग्योपनिषद्३

29 माण्डूक्याग्योपनिषद्, ९

30 अथर्ववेद, १०.७.३२-३४

31 अग्निर्मूधा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ षदमुण्डकोपनि-, २.१.४

32 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पंचाम्यन्नं चतुर्विधम्। - गीता, १५.१४

33 निरुक्त, ७.६.१

है। इसलिए यह ईश्वर ही वैश्वानर है।[34] इस प्रकार उपनिषदों में यह शब्द सम्पूर्ण जगत् में व्यापक परमेश्वर के लिए आया है।

वैश्वानर के प्रादेशमात्र तथा अभिविमान पदों की व्याख्या

शंका - वैश्वानर से परमेश्वर का परिग्रह करने पर प्रादेशमात्र श्रुति कैसे उपपन्न होगी?

समाधान - परमेश्वर में प्रादेशमात्र अभिव्यक्ति के लिए है।[35] श्रुति और स्मृति में परमेश्वर की अभिव्यक्ति का स्थान (प्रादेश) हृदय ही कहा गया है। आचार्य बादरि के विचार में वैश्वानर आत्मा का अनुस्मरण-चिन्तन हृदय प्रदेश में किया जाता है, इसलिए वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा गया है।[36]

श्रुति का 'अभिविमान' पद भी नाप-तोल से रहित ब्रह्म का बोधक है = अभिऽविऽमान = विनिषेधपरक अव्यय, मान = नाप-तोल, जो नापतोल रहित - अवधिरहित है। वह वैश्वानर प्रत्यगात्म रूप से अभिविमान किया जाता है, अर्थात् 'मैं' इस प्रकार समस्त प्राणियों के द्वारा जाना जाता हूँ, इसलिए अभिविमान है[37] अथवा जगत् का कारण होने से सबका निर्माता है। अतः अभिविमान है।[38] इस प्रकार यह पद सर्वज्ञ स्वरूप को अभिव्यक्त करता हुआ ब्रह्म का वाचक है। ऋग्वेद[39] में परमेश्वर के ऐसे ही स्वरूप का वर्णन मिलता है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म को '**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**' कहा गया है।[40]

इस प्रकार अश्वपति ने उन विद्वानों को यह शिक्षा दी कि उस वैश्वानर को केवल द्यौ, सूर्य अथवा आकाशादि मानना, ब्रह्म को एकदेशी के रूप में देखना है। इन छहों अंगों से ब्रह्म का विराट् शरीर (विश्व) बनता है, जिसे वैश्वानर के रूप में जाना जाता है।

---

[34] शांकरभाष्य, छान्दोग्योपनिषद् ५. १८.१ तथा शांकरभाष्य, माण्डूक्योपनिषद् ३

[35] ब्रह्मसूत्र, १.२.२९

[36] अनुस्मृतेर्बादरिः। - ब्रह्मसूत्र, १.२.३०

[37] अहमिति ज्ञायत इत्यभिविमानः। शांकरभाष्य, छान्दोग्योपनिषद्, ५.१८.१

[38] ब्रह्मसूत्र,१.२.३२

[39] ऋग्वेद,३.६२.९

[40] ब्रह्मसूत्र,१.२.३०

उपनिषदों में वर्णित यम-नियमों का स्वरूप

डॉ० मोहिनी आर्या[1]

मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। मोक्षप्राप्ति हेतु ऋषियों ने अनेक उपाय बताये हैं। उन उपायों में योग सर्वोत्तम उपाय है। योग शब्द वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों में अतिप्राचीन काल से व्यवहृत होता आया है। भारतीय दर्शनों में तो योग एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। योगदर्शन में योग का उन्नत तथा स्पष्टरूप दृष्टिगोचर होता है।

व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'युज्' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय करने पर योग शब्द व्युत्पन्न होता है। महर्षि पाणिनि के धातुपाठ में दिवादिगण में (युज् समाधौ), रुधादिगण में (युजिर् योगे) तथा चुरादिगण में (युज् संयमने) अर्थों में युज् धातु का प्रयोग है अर्थात् संयमपूर्वक साधना करते हुए आत्मा का परमात्मा के साथ योग करके (जोड़कर) समाधि का आनन्द लेना योग है।

आत्मदर्शन एवं समाधि से लेकर कर्मक्षेत्र तक योग का व्यापक व्यवहार हमारे शास्त्रों में हुआ है। योगदर्शन के उपदेष्टा महर्षि पतञ्जलि 'योग' शब्द का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध करते हैं।[2] महर्षि व्यास योग का अर्थ समाधि करते हैं- **योगः समाधिः**।[3]

वेद सब सत्यविद्याओं का मूल है। मानवीय जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान वेद में निबद्ध है। सब सत्यविद्याओं में प्रमुखरूपेण ब्रह्मविद्या-अध्यात्मविद्या है, यह अध्यात्मविद्या ही योगविद्या है, अत: वेद का योगविद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सर्वप्रथम योग के बीज ऋग्वेद में पाये जाते हैं। ऋग्वेद (५/८२/१) में आया है विज्ञ लोग, पुरोहित एवं यजमान अपने मनों को केन्द्रित करते हैं और प्रार्थनाओं को इस विज्ञ, महान् सविता में लगाते हैं, जो सभी प्रार्थनाओं को जानने वाला है। योग शब्द कई

---

[1] **सहायकाचार्या (संस्कृत विभाग), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली- ११०००७**

[2] योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग.द., १ .२)

[3] यो.द., १.१

अर्थों में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य सायण ने (ऋ., १/५२) मंत्र के भाष्य में 'योग' का अर्थ 'जो पहले से प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना' रूप में लिया है। योग शब्द बहुधा क्षेम के साथ भी ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। यथा-

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तमः।[4]

यजुर्वेद अध्याय ११ के १-५ मंत्रों में कुछ विस्तार से योग का संकेत उपलब्ध है। यथा-

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥

अर्थात् जो ऐश्वर्य की कामना करने वाला मनुष्य परमेश्वर आदि पदार्थों के विज्ञान के लिए अन्त:करण की वृत्तियों को योगाभ्यास से युक्त करता है वह योगविद्या का ज्ञाता होवे। इसी प्रकार **'युक्तेन मनसा'** (११.२) इस मंत्रांश में भी मन को समाहित करने का उपदेश है। यजुर्वेद के ये पाँच मंत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २.१.५ में ज्यों के त्यों उद्धृत हैं।

कुछ उपनिषदों में 'योग' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा वह योगसूत्र में प्रयुक्त है। कठोपनिषद् में ऐसा आया है-

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अर्थात् विज्ञ लोग योग द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तथा मन को अन्तरात्मा में स्थिर करके आनन्द एवं चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं। कठोपनिषद् ६/१८ में आया है कि नचिकेता ने यम द्वारा प्रवर्तित योगविधि एवं विद्या को जानकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है।

'योग' शब्द तैत्तिरीयोपनिषद् (२/४) में भी प्रयुक्त हुआ है, जहाँ विज्ञानमय आत्मा के विषय में कहते हुए योग को इसका आत्मा कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१/३) में 'ध्यान योग' शब्द आया है। श्वेता.उप. (२/८-१३) में आसन प्राणायाम का उल्लेख है तथा सफल योगाभ्यास के लक्षण प्रकट किये गये हैं।

भारतीय वाङ्मय में गीता का एक अपना महत्वपूर्ण स्थान है। भारत के आधुनिक सन्तों ने तो गीता के योग का प्रचार विश्वभर में किया है। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण योग

[4] ऋग्वेद १०/१६६/५

को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करते हैं- अनुकूलता, प्रतिकूलता, सिद्धि-असिद्धि, सफलता-विफलता, जय-पराजय इन समस्त भावों में आत्मस्थ रहते हुए सम रहने को 'योग' कहते हैं।[5] असंग भाव से द्रष्टा बनकर, अन्तर की दिव्यप्रेरणा से प्रेरित होकर कुशलतापूर्वक कर्म करना ही योग है।[6]

शोध-पत्र के विषय के अनुसार उपनिषदों में योगदर्शन से तुलना करते हुए यम-नियमों का स्वरूप इस प्रकार है- योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को 'यम' तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान को 'नियम' कहा गया है। उपनिषदों, पुराणों तथा स्मृति आदि ग्रन्थों में भी यम-नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ पर इनका स्वरूप एवं परिभाषा योगदर्शन के समान तथा भिन्न रूप में प्राप्त होते हैं। पतञ्जलि ने स्वयं इनकी कोई परिभाषा न देकर इनके द्वारा होने वाले सभी लाभों का वर्णन किया है। व्यास जी ने यम-नियमों के प्रत्येक भेद की परिभाषा की है।

उपनिषदों में यम-नियमों की चर्चा योगदर्शन से कुछ अन्य रूप में उपलब्ध होती है। कई उपनिषदों में पाँच-पाँच के स्थान पर दस-दस यम-नियम माने गये हैं तथा योगदर्शन में परिगणित नियमों को भी यमों के अन्दर समाविष्ट कर दिया गया है।

यदि ईशोपनिषद् आदि प्रधान उपनिषदों पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि इनमें यम-नियमों का नाम लेकर अथवा योगाङ्ग के रूप में भी उनका उल्लेख नहीं है, किन्तु इन उपनिषदों में सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या पर तो बहुत अधिक बल दिया गया है । इसके अतिरिक्त शौच, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, प्रत्याहार आदि अन्य योगाङ्गों के बीज भी इन उपनिषदों में पाये जाते हैं। यथा-

अहिंसा- व्यास जी के अनुसार सभी प्राणियों से सर्वदा तथा सर्वथा द्रोह भावना न रखना ही अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा का क्षेत्र अति विस्तृत कर दिया गया। इसलिए व्यास जी के अनुसार- अन्य सत्य आदि यमों के मूल में अहिंसा ही है। अहिंसा की सिद्धि के लिए दूसरे यम-नियम हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकार की अहिंसा यहाँ पर अपेक्षित है। 'ईशादि उपनिषदों' में अहिंसा का पृथक् रूप में अधिक उल्लेख नहीं किया गया है। उपनिषद् में एक कथा प्राप्त होती है कि प्रजापति ने 'द' अक्षर के द्वारा ही

---

[5] योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जयः ॥

[6] सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते (गीता., २.४८)

देवों, मनुष्यों तथा असुरों को क्रमशः दमन, दान तथा दया का उपदेश दिया। असुर ही हिंसारत रहते थे। प्रजापति के आदेश से उन्होंने भी हिंसा छोड़ दी। देव और मनुष्य तो पहले से ही हिंसा से पृथक् थे। यह कथा उपनिषदों में योगदर्शन के अहिंसा यम के समान ही अहिंसा को द्योतित करती है।

इनमें कहीं-कहीं ऐसी परिभाषा भी है जो योगदर्शन के अनुकूल नहीं है। यथा जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है- "**वेदोक्त हिंसा को छोड़कर कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन तीन प्रकार वाली हिंसा है**।" विदित होता है कि यह उपनिषद् उस समय लिखी गई, जबकि यज्ञ आदि में हिंसा का प्रचार हो रहा था। ऐसे समय में ही "**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**" आदि उक्तियाँ प्रकाश में आयीं। इसका प्रभाव जाबालदर्शनोपनिषद् में अहिंसा की उक्त परिभाषा में परिलक्षित होता है, जो कि अनुचित है।

सत्य- द्वितीय यम सत्य का अर्थ व्यास जी ने '**यथार्थे वाङ्मनसे**' किया है। अर्थात् जैसा देखा, जैसा अनुमान किया तथा देखे हुए के अनुसार ही अपने मन तथा वाणी को रखना सत्य कहलाता है। व्यास जी के अनुसार सत्य के मूल में भी प्राणियों के उपकार की भावना ही प्रमुख है।

उपनिषदों में भी सत्य पर बहुत बल दिया गया है। मुण्डकोपनिषद् में सत्य को ब्रह्मप्राप्ति के साधनों में प्रमुख माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में ही कहा गया है-

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥[7]

तैत्तिरीयोपनिषद् में समावर्तन संस्कार के समय आचार्य स्नातक को किसी भी अवस्था में सत्य की उपेक्षा न करके सत्य बोलने का उपदेश देता है।[8]

इसी प्रकार छात्र तथा अध्यापकों के लिए विद्याध्ययन काल के आरम्भ में बोला जाने वाला उपदेश "**ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि**" भी इसी उपनिषद् में है।

छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध कथा के अनुसार सत्य बोलने के कारण ही सत्यकाम

---

[7] मुण्डकोप. ३.१.६

[8] सत्यं वद। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। (तैत्तिरीयो. १.१०.१)

को ऋषि ने यह नाम दिया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में सत्य को ही धर्म माना गया है- **"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्।"**[9]

ब्रह्मचर्य- पतञ्जलि द्वारा परिगणित चतुर्थ यम ब्रह्मचर्य का अर्थ व्यासजी 'गुप्तेन्द्रिय' का संयम करते हैं, जबकि योगकारिका, दक्षस्मृति आदि कुछ ग्रन्थों में अष्टविध-मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है।

उपनिषदों में ब्रह्मचर्य को आत्मदर्शन के लिए अत्यावश्यक माना गया है। अनेक स्थानों पर उपनिषदों में तप, सत्य, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य चारों का उल्लेख एक साथ है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में **'तपश्च श्रद्धां सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च'**[10] तथा प्रश्नोपनिषद् में- **'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति'**[11] आदि अनेक स्थानों में पाया गया है।

इस साहचर्य से ऐसा प्रतीत होता है कि तप, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का साथ-साथ पालन श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। योगदर्शन में भी श्रद्धा को महत्त्व दिया गया है। व्यास जी इसे चित्त का सम्प्रसाद कहते हैं और कहते हैं कि माता के समान यह श्रद्धा योगी की रक्षा करती है तथा असम्प्रज्ञात समाधि में सहायक सिद्ध होती है।[12] कठोपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अनिवार्य बताया गया है- **"यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।"**[13]

अपरिग्रह- पञ्चम यम अपरिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है- **'परितो ग्रहः'** अर्थात् चारों ओर से भोगसाधनों का ग्रहण करना अथवा परिग्रह के विपरीत अपरिग्रह है अर्थात् भोगसाधनों का ग्रहण न करना।

उपनिषदों में साक्षात् अपरिग्रह नाम से तो कुछ नहीं कहा है किन्तु उपनिषदों की शिक्षा अवश्य ही अपरिग्रह- वृत्ति को दृढ़ करती है। यथा कठोपनिषद् में यमाचार्य

---

[9] बृहदारण्य. १.४.१.४

[10] मुण्डकोप. २.१.७

[11] प्रश्नोप. ५.३

[12] योगदर्शन, सू.-१०२ पर व्या. भाष्य

[13] कठोप. १.१.१५

नचिकेता के समक्ष संसार के सभी ऐश्वर्यों का प्रलोभन उपस्थित करते हैं किन्तु नचिकेता यह कहकर इनका तिरस्कार कर देता है- '**तवैव वाहास्तव नृत्यगीते**' अर्थात् यमाचार्य ये सब तुम्हें ही प्राप्त हों। इनके त्याग में नचिकेता जो हेतु प्रस्तुत करता है वे योगभावना से ही अनुप्राणित हैं। वह कहता है-

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥[14]

इसी प्रकार की एक कथा बृहदारण्यकोपनिषद् में भी प्राप्त होती है ।

नियमों का वर्णन

शौच- अष्टाङ्ग योग में सर्वप्रथम नियम शौच है। शौच का अर्थ है '**पवित्रता**'। शौच से तात्पर्य स्नानादि के द्वारा केवल बाह्य पवित्रता ही यहाँ अपेक्षित नहीं है, अपितु आन्तरिक पवित्रता भी आवश्यक है। इसलिए व्यास जी कहते हैं- "**तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरितञ्च मलानामाक्षलनम्।**"[15]

उपनिषदों में भी आचरण की पवित्रता पर बल दिया गया है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर तपस्या, सत्य आदि का विधान आन्तरिक मलों को दूर करने के लिए किया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है- "जो व्यक्ति सदैव पवित्र रहता है, वही परमपद को प्राप्त करता है।"[16] मनुस्मृति में क्षमा, दान, तप, जल, सत्य, विद्या तथा ज्ञान इन सबको शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की शुद्धि करने वाला कहा गया है।

सन्तोष- योगाङ्गों में द्वितीय नियम सन्तोष है। व्यास जी के अनुसार सन्तोष का अर्थ है- '**उपलब्ध साधनों से अधिक की प्राप्ति की कामना न करना**।'[17] सन्तोष चित्त की एकाग्रता का साधन है। असन्तोषी मन एवं शरीर से सदैव अतृप्त, दु:खी तथा अशान्त रहता है। ईशोपनिषद् में कहा गया है-

---

[14] कठोप. १.१.२६

[15] योग.सू. २.३२ पर व्या. भाष्य

[16] यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ कठोप. ३.८

[17] सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। यो.सू. २.३२ पर व्या. भाष्य

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥[18]

अर्थात् मनुष्य को त्यागपूर्वक ही भोग करना चाहिए। परमेश्वर के द्वारा प्रदत्त भोगों का ही सन्तोषपूर्वक भोग करना चाहिए।

तप- नियमों में परिगणित तप का अर्थ व्यासजी ने द्वन्द्वों को सहन करना बतलाया है। उन्होंने भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि का द्वन्द्वों में परिगणन किया है।

यहाँ विशेष रूप से ध्यातव्य है कि भूख-प्यास आदि को सहन उतनी ही मात्रा में किया जाये, जिससे शरीर तथा मन अतिकष्ट को प्राप्त न कर सकें इसीलिए क्रियायोग की व्याख्या के प्रसङ्ग में उन्होंने कहा है-

'तप ऐसा होना चाहिए, जिससे चित्त प्रसन्न हो तथा जिसका सेवन निर्बाधरूप से किया जा सके।'[19]

इस परिभाषा से तप के उन प्रकारों का सर्वथा निषेध हो जाता है, जिसके द्वारा निरन्तर महीनों तक खड़े रहना, बिल्कुल भूखे-प्यासे रहकर अग्नि तथा सूर्य की गर्मी से शरीर को तपाकर कष्ट दिया जाता है।

प्रश्नोपनिषद् में आत्मदर्शन के साधनों में तप को गिनाया गया है। मुण्डकोपनिषद् १.१. ९; २.१.७ में तप का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में भी तप के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति बतायी गयी है।

स्वाध्याय- नियमों में चतुर्थ नियम स्वाध्याय है। व्यास जी ने स्वाध्याय का अर्थ- **'मोक्षविषयक शास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणव जप किया है।'**[20]

'**अहरहस्वाध्यायमधीयीत**' आदि स्थानों पर स्वाध्याय पद से वेद का ग्रहण किया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में स्वाध्याय के साथ प्रवचन को भी जोड़कर दोनों के करने को आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है ।[21]

---

[18] ईशोप, १.१

[19] तच्च चित्तप्रसादमवाध......सेव्यम्। यो.सू. २.१

[20] स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां मन्त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।

यो.सू.व्या.भा. २.१

[21] ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। तैत्ति. १.९.१-६

ईश्वरप्रणिधान- नियमों में पञ्चम तथा अन्तिम नियम '**ईश्वरप्रणिधान**' है। व्यासभाष्य में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है- **'परमगुरु परमात्मा में अपने समस्त कर्मों का अर्पण करना अथवा कर्म-फल में इच्छा न रखना**।[22]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन को यही कहते हैं कि-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥[23]

उपनिषदों में ईश्वरप्रणिधान का नाम तथा परमेश्वर के प्रति सभी कर्मों को अर्पण करने की बात तो नहीं कही किन्तु यह भावना उपनिषदों में पगे-पगे परिलक्षित होती है। जैसा कि ईशोपनिषद् में कहा गया है- **'न कर्म लिप्यते नरे।**[24] अर्थात् हम इस प्रकार कर्म करें जो व्यक्ति को बांधने वाले न हों।

ईशोपनिषद् का यह वचन योगदर्शन के **"तत्कर्मफलसंन्यासः"** कर्मफल में अनासक्ति को ही द्योतित करता है।

कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में भी समान रूप से एक श्लोक उपलब्ध होता है। जिसमें कहा गया है कि- "आत्मा (ब्रह्म) जिसको स्वीकार कर लेता है उसके सामने ही अपने स्वरूप को प्रकट करता है।" यह ईश्वर प्रणिधान ही है।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है- बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी वाणी को मन में तथा मन को बुद्धि में लगा दें। बुद्धि को महत्तत्व में एवं महत्तत्व को शान्त आत्मा परब्रह्म में लगा दें।[25] यहाँ इन्द्रियादि सभी तत्त्वों को ईश्वर में अर्पित करने की बात ईश्वरप्रणिधान को ही द्योतित करती है।

इस प्रकार यम-नियमों का स्वरूप किसी न किसी रूप में उपनिषदों में प्राप्त हो जाता है।

---

[22] ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा। यो.सू. २.१

[23] गीता ९.२७

[24] ईशोप., मन्त्र सं.-२

[25] यच्छेद्वाङ्मनसी.......... कठो ३.१३

छान्दोग्योपनिषदि उद्गीथोपासना

डॉ० विजयलक्ष्मीः[1]

उपनिषद अध्यात्मरहस्योद्घाटनपराः ग्रन्थाः विषयेऽस्मिन् नास्ति कापि विप्रतिपत्तिः पौरस्त्यानां पाश्चात्त्यानां वा विदुषाम्। तत्र मन्त्रमाध्यमेन, गद्यद्वारेण, आख्यानोपाख्यानविधिना आत्मोपलब्धये, स्वस्वरूपप्राप्तये च नैकानामुपायानां, विषयाणां, विधीनाञ्च विस्तरेण वर्णनम्। अध्यात्मोपासकानां, आत्मज्ञानजिज्ञासूनां कृते मुण्डकोपनिषदो निर्देश अवधेयः- **ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।** (मु.उ.२.२.६) ओम् अस्यैव परमपदस्य **उद्गीथे**ति अपरं नाम। अत्रामुमेव पदमादाय छान्दोग्योपनिषद्दृशा विचारः क्रियते।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याखानम्। (छान्दोग्य १.१.१)। अनेन वचसा अध्यात्मविद्योपेताया अस्या उपनिषद आरम्भो भवति। अस्य उद्गीथाभिधेयस्य सम्यक् व्याख्यानं क्रियते प्रवर्तते इति क्रिया अस्मिन् वाक्येशिष्यते। अत्र उद्गीथ इति पदं विचारयता आचार्यवरेण शङ्करेणावादि - **अतस्तदेतदक्षरं वर्णात्मकमुद्गीथभक्त्यवयवत्वादुगीथशब्दवाच्यमुपासीत। (उद्गीथ)**

कर्माङ्गावयवभूतओंकारे परमात्मप्रतीके दृढामैकाग्रयलक्षणां मतिं संतनुयात्। स्वयमेव श्रुतिरोङ्कारस्योद्गीथशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह- ओमिति ह्युद्गायति। ओमित्यारभ्यहि यस्मादुगायत्यत उद्गीथ ओङ्कार इत्यर्थः। (छान्दोग्योपनिषद् शाङ्करभाष्यम् १.१.१तः पूर्वम्, छान्दोग्योपनिषद्, सानुवाद-शाङ्करभाष्यसहितम् गीताप्रेस-गोरखपुरम्, १९वां संस्करणम्)। उद्गीथभक्ति इति किम्? इति स्पष्टीकुर्वता लिखितं सम्पादकेन- सामवेदीय स्तोत्रविशेष का नाम उद्गीथभक्ति है। ओङ्कार उसका अंश है।(तत्रैव पृ.२४) इयमुपासना कर्माङ्गविषयिकी मता।(तत्रैव शाङ्करभाष्यम्)। उपासनेयं कथं कर्मकाण्डेन सम्बद्धेति स्पष्टीकुर्वता लिखितं भाष्ये –

---

[1] **संस्कृतविभागः, सनातनधर्ममहाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम् (उत्तरप्रदेशः)**

तत्र सम्बन्धः- समस्तं कर्माधिगतं प्राणादिदेवताविज्ञानादिसहितमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्रतिपत्तिकारणम्। केवलंच धूमादिमार्गेणचन्द्रलोकप्रतिपत्तिकारणम्। स्वभावप्रवृत्तानां च मार्गद्वयपरिभ्रष्टानां कष्टाधोगतिरुक्ता। (तत्रैव पृ.१८) अर्थात् ये जनाः विहितनिषिद्धकर्माणि विज्ञाय प्राणादिदेवतानां विज्ञानपूर्वकमनुष्ठानं कुर्वन्ति ते देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्नुवन्ति तथा चोपासनारहितं कर्म धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकं प्रापयति उपासकम्, एवमुद्गीथोपासकः उत्तमं लोकमधिगच्छति। आचार्यशङ्करमते कर्मण अन्यत्फलम्, ज्ञानञ्चास्ति भिन्नफलदायकम्, यथा- **अत एव न कर्मसहभावि-अद्वैतात्मदर्शनम्, क्रियाकारकभेदोपमर्देन। (तत्रैव पृ. २०)।** ज्ञानस्यफलं ज्ञापयतोक्तम्- **ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः। तस्माद्य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवतां सोऽमृतत्वमेतीति। (अध्यायः२.२३.१भाष्ये, पृ.२०३)।** यद्यपि प्रथमदृष्ट्या**अत एव न कर्मसहभाविअद्वैतात्मदर्शनम् तथाअधिगतसकलवेदार्थस्य कर्मविधानादद्वैतज्ञानवतोऽपि कर्मेति चेत्? न, कर्माधिकृतविषयस्य कर्तृभोक्त्रादिज्ञानस्य स्वाभाविकस्य सत् एकमेवाद्वितीयम्, आत्मैवेदं सर्वम् इत्यनेनोपमर्दित्वात्। तस्मादविद्यादिदोषवत एव कर्माणि विधीयन्ते नाध्यात्मज्ञानवतः** (तत्रैव पृ.२०-२१) वाक्यानीमान्यधीत्य अत्र कर्मणां निषेध किमिति भ्रान्तिर्जायते सहैव गीतायाः सन्देशोऽपि स्मरति अध्येता- **न कर्मणामनारम्भारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।** (गीता ३.४,५) अर्थात् कर्मभिः विराम असम्भवः। कथं तर्हि कर्मणां विधानमेकेषां कृते अन्येषां कृते कर्मणां निषेध इति आशङ्का उदेति पठकस्य चेतसि परं सम्यगालोच्यमाने परिस्फुटीभवति यद् येन सर्वत्र **आत्मैवेदं सर्वम्-** (छा.७.२५.५) इयमनुभूति उपलब्धा, अधिगता, आत्मसात्कृता चेत्तेषामेव कृते आचार्यशङ्करस्य मते कर्मणां निषेधः नान्येषाम्, यतोहि अनुभूतिरियं न केवलं लौकिकैरपितु अध्यात्ममार्गनिरतैरपि साधकैः प्रायशः अनुपलब्धैव भवति। न च अस्मत्सदृशानां लोके निरतानां कर्मसु वा आसक्तानां जनानां कृते, न च केवलं नाम्नैव वस्त्रपरिवर्त्तनेन वा अपराश्रमप्रविष्टानाम्, न च श्मशानवैराग्याणाम्, नापि चावाप्तकारणवैराग्याणां कृते आचार्यस्येदं वचनम्। यतोहि अद्वैतवेदान्तस्य राद्धान्तानां भावगाम्भीर्यमनवगमनेन, संन्यासाश्रमस्य मूलतत्त्वविस्मरणेन च महती क्षतिः जाता देशस्य, संन्यासधर्मणश्चेति प्रत्यक्षमेव सर्वेषां सुधियां कृते ।

ईशोपनिषदापिसर्वत्रैक्यभावेन पश्यतः कीदृशी अवस्थेति सम्यक् स्पष्टीकृतम्, तद्यथा- **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।** (मन्त्रसंख्या ६,७), अपि च गीतायाम्- **यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।** (गीता ३.१७,१८.)। अर्थात् यैः निजलौकिकानि निखिलानि कर्त्तव्यानि निःशेषतां नीतानि, कर्मभिरुत्पन्नाः क्लेशाः प्रभावविरहितानि विहितानि तथाविधानां निर्गतनिखिलकल्मषनितान्तनिर्मलस्वान्तानां कृते नास्ति कर्मणामावश्यकता, यद्यपि यावज्जीवनमस्ति तावत्कर्मभिः विरामस्त्वसम्भवः परं परमावस्थापन्नैः योगिभिः कृतं कर्म फलाकाङ्क्षया सर्वथा विरहितं भवति, अतः तत्र कृतेनाकृतेन वा कर्मणा न किमपि प्रयोजनम्। महर्षिपतञ्जलिमते तेषां क्षीणक्लेशानां योगिनां कर्माणि अशुक्लानि अकृष्णानि च भवन्ति। तद्यथा- **कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्** (योगदर्शनम् ४.७)। अस्य व्यासभाष्यम्- **अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद्, अकृष्णं चानुपादानाद्।** एवंविधानां चरमदेहानां कृते कर्मणामावश्यकता नास्ति इत्याशयः भवितुम्मर्हति आचार्यशङ्करस्य।

विचार्यमाणे स्पष्टमिदं वक्तुं शक्यते यद् ये प्रारम्भिकाः साधकाः, येषां ईहलोकदृशा कर्त्तव्यत्वेन करणीयानि कार्याणि अवशिष्टानि वर्तन्ते,यैः आदिवसं न केवलं ब्रह्मचर्चैव विधातुं शक्यते, तेऽपि**ओम्** अक्षरस्य ध्यानेन कथं स्युः मोक्षमार्गमार्गिणः, अध्यात्माध्वान्वेषिणः, आत्मगौरवगवेषिणः, अनासक्तभावोपेताश्चेति आरभ्यत उपनिषदियम्। ओङ्कारोपासनया उद्गीथोपासनयारभ्यते छान्दोग्योपनिषद्। उद्गीथस्य सर्वातिशयत्वं साधयितुं सूचयितुञ्चोपक्रमते ऋषिः, तद्यथा- **एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्याः आपो रसः। अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्यवाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।** (छान्दोग्योपनिषद्१.१.२,३.)। अत्र परिगणितेषु क्रमो वर्तते- पृथिवी-आप-ओषधि-पुरुष-वाक्-ऋक्-साम तथा अष्टमः रसानां रसतमः उत्कृष्टश्चास्ति **उद्गीथः।** अत्र पठितस्य परार्ध्यपदस्य विषये लिखितम्- **अर्धं स्थानं परं च तदर्धं च परार्धं तदर्हतीति परार्ध्यः परमात्मस्थानार्हः परमात्मवदुपास्यत्वादित्यभिप्रायः।** (तत्रैव१.१.३

शाङ्करभाष्यम्)। अन्यत्रापि पठामः- **रसो वै सः**(तैत्तिरीयोपनिषद् २.७.१)। कथयितुं शक्यते यद्दृष्टिपथमागतस्यानागतस्य च सर्वस्याप्यस्य ब्रह्माण्डस्याधारभूतः सारभूतश्च वर्तते **ओम् उद्गीथो वा।**तत्र कतमा ऋक्, कतमत्साम तथा कतम उद्गीथ इति जिज्ञासायामुच्यते छान्दोग्यमनीषिणा- **वागेवर्क् प्राणः सामामित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च।**(१.१.५)। वाक् ऋचः कारणम्, प्राणश्च साम्नः कारणभूतम्, एवं वाक्प्राणयोरेकं मिथुनम्। वाक्प्राणयोः मिथुनमिदं यदा ओम् इत्यनेनाक्षरेण संयुक्तं भवति तदा अन्योन्यस्य कामान् पूरयत। यथा लोके स्त्रीपुरुषरूपं मिथुनं परस्परं कामान् प्राप्नुतः। समीचीनमेवोक्तमाचार्येण-**मिथुनस्य कामापयितृत्वं प्रसिद्धम्।** (तत्रैव आचार्यशङ्करवचनम्)। योऽपि यत्रापि यथापि संयुक्तं भवति स तत्र तथैव लभते फलम्। लौकिकदृष्टान्तं प्रदाय बोधितमृषिणा लोकाः यत् यावदोन्नतं लक्ष्यं साध्यं वा तदवाप्तये तदनुरूपमेवसाधनं सेवनीयम्, यतोहि प्रायशः स्वीकृते सेविते वा साधनानुकूले साधने हीष्टं साध्यं साधितं भवति साधकस्य इति सर्वेषां स्वकीयानुभव एवात्र प्रमाणम्। उद्गीथोपीसना महत्फलप्रदेति ज्ञापयताप्रणवजपफलञ्च वदतावादि पतञ्जलिना- **ततः प्रत्यक्-चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च** (योगदर्शनम्१.२९)। सूत्रस्यास्य व्यासभाष्ये कियत्स्पष्टमुदीरितमाचार्यव्यासवर्येण- **ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति।** एवमोङ्कारस्योपासक उद्गाता वा किमाप्नोतीति उद्घोषयता ऋषिणोक्तम्- **आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते।** (छा.उ.१.१.७)। अत्र शाङ्करभाष्यम्- **य एतदक्षरमेवमाप्तिगुणवदुगीथमुपास्ते तस्यैतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः। तं यथा यथोपासते तदेव भवति।(मं.ब्रा. २०)।** अत्रास्मिन् प्रकरणे जिज्ञासेयं जायते यद् वाक्प्राणरूपमिथुनेन कथमभिलषितमुद्गीथरूपमनन्तं फलमवाप्नोति उपासकः, तत्रोच्यते- वागेव ऋगित्युक्तमुपनिषदा। ऋक्-ज्ञानमिति स्वीक्रियते चेत्तदा साधकः सर्वतोप्राक् आचार्योपसेवनेन स्वाध्यायबलेन ज्ञानमधिगच्छति। योगदर्शनेन अविद्यास्मितारागद्वेषाभिधेयानां पञ्च क्लेशानामपाकरणाय स्वाध्यायोऽपि अन्यतमोपायत्वेन अङ्गीकृतः, तद्यथा- **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः** (योगदर्शनम्२.१.) सूत्रं प्रणिनाय सूत्रस्यास्य फलं ज्ञापयताग्रिमं सूत्रं प्रस्तौति ऋषिः- **समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च** (तत्रैव२.२)। तत्र स्वाध्यायरूपेण किमध्येयमित्यपि अवश्यमवधेयमध्येतृणा, अस्मिन् विषये पातञ्जलसूत्राणां विश्रुतो

व्याख्याकारो व्यासो विवृणुते- **स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा** (तत्रैव२.१सूत्रस्य भाष्ये)। अर्थात्प्रणवजपः तथा मोक्षमार्गप्रवर्त्तकानां शास्त्राणामध्ययनं स्वाध्याय अभिधीयते। अतः स्वाध्याययोग्यानां ग्रन्थानां चयनमपि महत्त्वपूर्णम्। अथ च-**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति** (बृह.उ.४.४.२२)। अस्माकं राष्ट्रे स्वाध्यायपरम्परा अतीव समृद्धा आसीदतएव उपनिषद्-रामायण-महाभारतादिशास्त्रेषु बहु महत्वमुद्गीतं स्वाध्यायस्य, परं कालक्रमेण शनैः शनैः अस्मिन् विषये शैथिल्यं समायातम्, साम्प्रतिके काले तु स्वाध्यायपरम्परा समाप्तप्रायमेव प्रतीयते परं येन यदापि यावदपि यथापि पठ्यते तत्र किमध्येयमिति विवेचनं नितरामावश्यकम्। स्वाध्यायो वाचिकतप इति मन्यते मनीषिभिः, यथा- **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।** (गीता१७.१५)। **स्वाध्याय वाचिक क्रियायोग है**। (पातञ्जल योगदर्शनम्, हरिहरानन्दआरण्य, पृ.१४७, मोतीलाल बनारसीदास अष्टमं संस्करणम्)। आचार्यशङ्करमते तु ब्रह्मवर्चस आधारभूतं स्वाध्याय एव, यथा- **वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजो ब्रह्मवर्चसम्** (छा.३.१३.३भाष्यम्)। इत्थं सततस्वाध्याययज्ञानुष्ठानेन अध्ययनेन मननेन च मानवेन मानसिकमालिन्यमपाकर्तुं पार्यते। महर्षिपतञ्जलिना स्वाध्यायफलमुदीरयतोक्तम्- **स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः** (योगदर्शनम्२.४४)। छान्दोग्योपनिषद अन्तिमे खण्डे स्वाध्यायस्य महत्त्वं प्रतिपादयतोक्तं यत्ब्रह्मलोकप्राप्तये स्वाध्यायो विधेयः, तद्यथा- .. **शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानोधार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।** (८.१५.१) एवं वाचि स्थितं तज्ज्ञानं यदा आचरणे आयाति तदा ज्ञानं प्राणरूपेण सङ्गीतरूपेण जनस्य जीवनेन सह सङ्गच्छते, वस्तुतः अस्माकं दुःखानामिदमपि अन्यतमं कारणं यत् ज्ञानरूपेण वयं यदपि उचितानुचितं, करणीयाकरणीयं जानीमः, मनसापि स्वीकुर्मः तज्ज्ञानमस्माकं दैनन्दिनव्यवहारे, आचरणे च तथा न परिलक्ष्यते, एवमनयोः ज्ञानाचरणयोः सङ्गतिरभावेन जीवनं सङ्गीतमिव सरसं मधुरं रसं नोत्पादयति, यथा अस्माकं शरीरस्यैकमङ्गमन्यस्यां दिशि, अपरश्चापरस्यां गच्छेत्तदा न किमपि कार्यजातं सिद्धं भवति। एवमेव मानवजीवने सुखमाधातुं वाक्प्राणयोः सम्यक् सामञ्जस्यमावश्यकम्। यथा उभयोः पादयोः मिलिता गतिरेव नेदिष्ठं दविष्ठं वा लक्ष्यं चिरेणाचिरेण प्रापनोत्येव, विपरीते तु पदात्पदमपि चलितुं न शक्यते, तथैवास्ति

जीवनमपि, ज्ञानकर्मणोः सम्मिलिता राजपद्धतिः जीवनं सुखदं शान्तञ्च विदधाति, वैपरीत्ये सुखान्वेषणे एव जीवनं यापितं भवति। ऋचामधीत्य साम्नि प्रतिष्ठितः सुखमेधते अभिप्रायोऽयं यत् विद्वान् विनम्रो निरहंकारश्च भवेत्। अथ च गीतं यदा सुन्दरेण सङ्गीतेन, अनुकूलेन ताललयेन संयुक्तं भवति तदा गायकः सहृदयश्रोतारश्च सुखसरसि स्नाता इव शान्ताः तृप्ताश्चानुभवन्ति, तथैव यदा मानवेनाधिगतं वाचि व्यवस्थितं, मनसि विद्यमानं ज्ञानं सामरूपप्राणेन सह सङ्गतं भवति तदा जीवने लयबद्धतां सामञ्जस्यं, समतां, स्थिरतां समाप्नोति साधकः। यतोहि वागिति स्थूलेन्द्रियम्, स्थूलशरीराङ्गम्, तत्रैव प्राणस्य गणना भवति सूक्ष्मशरीरे अतः प्राणः सूक्ष्मशरीरस्याङ्गम्, साधनायै यावन्मात्रायां स्थूलशरीरस्य स्वस्थता, शुद्धतापेक्षिता, तथैव सूक्ष्मशरीरस्य शुद्धिरनिवार्या, अनयोः उभयोरेव सन्तुलनमध्यात्मयात्रायै लोकयात्रायैचावश्यकम्। **तदेन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे....** अनेन उद्घोषेण लोकाः जीवने सामञ्जस्यस्थापनार्थमुद्बोधिताः, इत्यप्येका दृष्टिः भवितुम्मर्हति।

अत्र वाक्प्राणसन्दर्भे एकमन्यदपि चिन्तनमवतरति विचारसरणौ यदत्र वाक्प्राणयो आधेयाधारसम्बन्धः। वागस्ति आधेयः, प्राणश्च वर्तते आधारः। वाक् वर्तते शब्दरूपा, प्राणश्चास्ति सङ्गीतम्, शब्दाः स्युः सङ्गीतानुकारिणः। यथास्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य मूलाधारोऽस्ति आत्मा, ततः कारणशरीरम्, तदुत्तरं सूक्ष्मशरीरम्, ततश्चायाति स्थूलशरीरम्। अत्रास्मिन् क्रमे आत्मा आधारः, आधेयमस्ति कारणशरीरम्। अथ च यदा कारणशरीरमात्मा तदा सूक्ष्मशरीरमाधेयरूपम्, पुनः यदा सूक्ष्मशरीरमात्मा स्थूलशरीरमाधेयत्वेन तदा। आधेय आधारमनुसरति चेत्तदैव सर्वं सम्यक् प्रचलति। जगज्जीवनस्याधारभूतास्ति प्रकृतिः, प्रकृतिरियमस्माभिः मानवै अनुसर्तव्या, आधारभूताप्रकृतिः नानुसरति लोकान्। यदि वयं प्रकृतिमनुसरामः, तत्तु सर्वेषां कल्याणाय कल्पते, एतद् वैपरीत्ये तु विनाशः, विविधरोगाः, विघ्नाः, विपत्तयश्च विश्वस्मिन् विश्वे व्याप्ताः विलोक्यन्ते।

उद्गीथोपासनया जनो भवति समृद्धः। यतोहि**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति** (छा.१.१.१०) तथा ओम् इति पदं तु स्वयमस्ति समृद्धिसूचकः। तद्यथा- **तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा। समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते।** (१.१.८)। अर्थात् यथास्मिन् श्लोके उक्तं**श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।**

मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः। (पातञ्जलयोगदर्शनम्, हरिहरानन्द आरण्य, पृ.३) तेन विधिना विहितं श्रवणं मननं ध्यानञ्च दर्शनस्य आत्मसाक्षात्कारस्य हेतवः सन्ति। कस्य श्रवणं मननं निदिध्यासनं विधेयमिति समादधता उपनिषद् निर्दिशति- **आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।** (छा.उ.२.४.५) मुण्डकोपनिषदि सम्यक् निगदितम्- **प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।** (२.२.४)। अर्थात् हृदाकाशस्थ ईश्वरः लक्ष्यम्, प्रणवो धनुर्वत् मतः, आत्मा अहंभावो वा शरः, अप्रमत्तेन अर्थात् सदैव स्मृतियुक्तेन मनसा तस्मिन् ब्रह्मरूपे लक्ष्ये आत्मरूपं शरं विद्धवा निश्चलीकृत्य तन्मयः स्यात् साधकः। तथा च- **ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्** (छा.१.४.१) अस्या आख्यायिकायाः व्याख्या तत्रैव शाङ्करभाष्ये पठामः- **प्रकृतस्यैवाक्षरस्यामृताभयगुणविशिष्टस्योपासनं विधातव्यमित्यारम्भः।** अत्र पठितेयमाख्यायिका वर्तते यदेकदा मृत्योः देवाः भीताः वेदत्रय्यां प्रविष्टवन्तः अर्थात् वेदविहिते कर्मकाण्डकरणे तत्परा अभवन्, (छा.१.४.२) परं **तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्।** (छा.१.४.३) अर्थात् यथा मत्स्यघातकः नातिगभीरे पयसि मत्स्यान् द्रष्टुं पारयति तथैव मृत्युनापि देवा अवलोकिताः, ये नातिगभीरेण कर्मकाण्डरूपाच्छादकेन स्वात्मानमाच्छाद्य अस्माभिः मृत्युर्जित इति मन्वाना आसन्। तर्हि कर्मकाण्डं सर्वथा निरर्थकं किमित्याशङ्कायामुच्यते न, अर्थात् न सर्वथा निष्फलमिति यतोहिअनेन कर्मकाण्डेन तेषां चित्तं शुद्धं जातम् तथा च चित्तस्य शुद्धिर्बलेनैव देवाः सम्यक् ज्ञातवन्तः यदनेन कर्मणा मृत्योः परंपारं गन्तुमशक्यं खलु, इत्यवधार्य ते **स्वरम्** अर्थात् स्वयं राजमाने **ओम्** इत्यभिधेये अक्षरे प्राविशन्, अर्थात् ओङ्कारोपासनायां संलग्नाः बभूवुः। आख्यानस्यास्य सारं ज्ञापयन् कथयति ऋषिः- **एष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं ततप्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्। स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति।** (छा. १.४.४,५)। अर्थात् यथा देवा एनं स्वराभिधेयममृतमभयमक्षरमुपास्य अमृता अभयाश्चाभवन् तथैव योऽपि विद्वान्नेनमैवमुपासते सोऽपि अमृतत्वमभयत्वमुपलभत इति। ओङ्कारमहत्त्वमुदीरयता यमेन कठोपनिषदि अतीव स्पष्टमुक्तम्- **सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो**

ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। (१.२.१५,१६,१७)। अस्यामृतस्वरूपस्य प्राप्त्यनन्तरं पुरुषः कीदृशो भवति? ज्ञापयति उपनिषद्- **अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते** (कठ०२.१.२)। तथा च – **तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्ति शाश्वती नेतरेषाम्।** (२.२.१९)। विवेचनेनानेन परिस्फुटीभवति **ओम्**निदिध्यासनस्य महात्म्यम्।

अध्यात्मदृशा उद्गीथोपासनां प्रतिपाद्य अधिदैवतदृष्ट्योद्गीथोपासनां वर्णयन्नाह उपनिषद्कारः - **अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यंस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै तमसो भवति य एवं वेद।** (छा.१.३.१)। आध्यात्मोपासनापेक्षया अधिदैवतोपासना स्थूला, **भिन्नरुचिर्हिलोकः** लोकं पश्यामश्चेत् उक्तिरियं तथ्यान्वितेति प्रतीतिर्जायते, स्थूलदृशा अवलोकनेन तपसिसंलग्नानां जनानामपि नैके भेदाः (सूक्ष्मस्तरे तु समाने स्थाने समाने समयेसमानायामेव साधनायां संलग्नेषु साधकेषु बहुविधं भिन्नत्वं स्पष्टमेव, परं मनोविकारादीनां रूपेणएकस्मिन्नेव साधके बहुविधा उच्चता अवच्चता च सततं प्रवर्तते) तद्यथा- केचन जनाः अध्यात्मपराः, अपरे सांसारिककर्मसु लग्नाः, अन्ये कदाचित् लोके संसक्ताः, कदाचिच्च अध्यात्मपथप्रवीणा इव प्रतीयन्ते। एके सर्वथासात्त्विकतपसि निमग्नाः लोकेभ्यः विरताः, अन्ये राजसिकतपः कुर्वाणाः सांसारिकसुखेप्सवः, अपरे च निजदेहं तप्त्वा, तामसिकतपोबलेन परेषां स्वत्वग्रहणेतत्परास्सन्ति। सात्त्विक-राजसिक-तामसिक तपस्विनां भेदं प्रदर्शयन्नाह गीताकारः – **श्रद्धया परया तप्तं तपस्त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते। सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्। मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।** (गीता१७.१७,१८,१९.)। एवमनेकविधां भिन्नतां मनसि विचार्य्यैव ऋषिणा अध्यात्मोपासनानन्तरमधिदैवतोपासनायाः चर्चा आरब्धा। उद्गीथशब्दस्तु **ओम्** इत्याख्यस्याक्षरस्य वाचकः तर्हि **तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष..** अत्र आदित्यस्य पर्यायवाचित्वेन कथं परिणतः? अस्मिन् विषये आचार्यशङ्करस्य मतमवलोकयामः- **उद्यन्नुद्गच्छन्वा एष प्रजाभ्यः प्रजार्थमुद्गायति प्रजानामन्नोत्पत्त्यर्थम्। न ह्यनुद्यति तस्मिन् व्रीह्यादेर्निष्पत्तिः स्यादत उद्गायतीवोद्गायति, यथैवोद्गातान्नार्थम्। अतः उद्गीथः**

सवितेत्यर्थः। (छा.१.३.१भाष्यम्)। उदित आदित्यः तमसा आच्छादितं समस्तं संसारं स्वप्रकाशेन प्रकाशयति, गाढान्धकारेणोद्भूतं भयमपाकृत्य जगज्जीवनं रक्षति। एवम्मानवोऽपि मानवेषु विद्यमानमज्ञानान्धकारं ज्ञानदीपकेन निराकुर्यात्, अस्मिन् प्रकरणे इदं तु निश्चप्रचमेव यदन्येषु वर्त्तमानाया अविद्यायाः विनाशाय निरसनाय वा सर्वतो प्राक्स्वकीयमज्ञानमपाकृत्य तत्स्थाने ज्ञानस्य स्थापना अनिवार्या। अतीव कठिना साधनेयं खलु। आदित्यस्य अपरो गुणोऽयं यत्तेन प्राणिषु व्याप्तं भयमपाक्रियते, एवं मनीषिणापि समाजे निर्भयता सम्पादनाय निश्चयेन प्रयत्नो विधेयः। बहुविधैः भयैःजनजीवनमाक्रान्तमस्ति, भीतस्य भयोन्मूलनं तस्य महत्कल्याणायकल्पते यतोहि भीतो जनः प्राप्तसुखमपि अनुभवितुमुपभोक्तुं भोगान् च भोक्तुमसमर्थ एव।

अखण्डचेतनोपेत आदित्यो यथा अखण्डे ब्रह्माण्डे अभेदभावनया अंशून् प्रसारयति, समस्तमपि संसारमालोकयति तथैव मानवोऽपि विद्यादाने, वित्तप्रदाने, वस्त्रदाने, अन्नदाने यत्रापि यथापि स्वसामर्थ्यमनुभवति तत्रैव सम्पूर्णां सृष्टिं स्वीयं कुटुम्बमिति मत्वा सहाय्यं दद्यात्। उपकारकर्मसु निरताः नैके नराः जगत्याम्, परं तत्रापि आदित्यस्य यद् वैशिष्ट्यद्वयम् तदस्माभिरवधेयमङ्गीकरणीयञ्च। तद् वैशिष्ट्यद्वयमस्ति- **विश्वस्मिन् विश्वे अभेददर्शनम् निरभिमानिता च।** अस्माभिः सहाय्यं तु क्रियते परं तत्रापि अस्माकं दृष्टिः भेदयुता, जातिधर्मदेशाधारिता च भवति, अपि यस्य कस्यापि सहाय्यमस्माभिः क्रियते **सोऽपि मां प्रति कृतज्ञो भवेदिति कामना तथा च दाताहमिति अहंसंयुक्तः भावः चेतस्सु समुदेति।** परमादित्यस्तु निष्कामभावनया, कल्याणहेतुनैव स्वप्रकाशं ददाति, अपि च अनया भावनया दत्तं दानं राजसिकश्रेण्यां परिगण्यते न सात्त्विकश्रेण्याम्। अपरञ्च आदित्यो यथा नियते काले उदेति अस्तमेति च तथैव जनेनापि स्वकीयानि कृत्यजातानि कालेन सम्पादनीयानि, समयपालने तत्पराः महानुभावा अतीव न्यूना अस्मत्समाजे, अतः आदित्यस्य अयमपि गुणो ग्राह्यः। आदित्यस्येमानि वैशिष्ट्यानि नावधार्यते चेत्तदा नेयमस्ति आदित्योपासना, आराध्यस्य कृपाप्राप्तये आराध्यगुणगणा आत्मसात्करणीयाः जनेन, चरित्रपूजया कार्यं सेत्स्यति न चित्रपूजया।

अधिदैवतोपासनाविषये इदमप्यवधेयं यदनयोपासनया, एतादृशैश्चोत्तमकर्मभि उपासक अभिलषितान् कामान्नवाप्नोति, ऐश्वर्यं लभते, उच्चलोकान्नुपैति, सुखमेधते परं नात्यान्तिकं सुखमुपलभते। उक्तञ्चास्मिन् प्रकरणे- **तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च**

सत्यकामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। (छा. ८.१.६)। आत्यन्तिकसुखलाभायकिमाचरणीयमिति निर्दिशन्नुपदिशति ऋषिः- **यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।** (छा.७.२३.१)। **यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।** (छा.७.२४.१)। किं भूमेति? कथयति- **यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।** (तत्रैव)। महाभारतकारस्य मतमपि निभालनीयमस्मिन् सन्दर्भे- **समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते** (शान्तिपर्वणि २३६.३६)। अपि च- **परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः। अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्त्तन्ति वा विभो।** (शान्ति ३०१.७८)।

एवमध्ययनेनानेन निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यदात्मकल्याणाकांक्षाकारिणा जनेन पूर्णमनसा, समर्पणभावेन च **उद्गीथोपासना विधेया**। उपासनायै निर्दिष्टाः नियमाः सर्वथा पालनीयाः। सम्यक्कथितमुपनिषदा- **सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।** (मु.उ.३.२.५)।

औपनिषत्क ब्रह्म

डॉ० अरुणिमा रानी[1]

वेदों के तत्त्व को उद्घाटित करने वाली होने से उपनिषदें 'वेदान्त' नाम से भी अभिहित हैं। उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ब्रह्मविद्या भी है। उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी ब्रह्मविद्या ही है। प्रस्तुत आलेख में उपनिषदों में महिमा प्राप्त ब्रह्म के स्वरूप पर चिन्तन किया जाएगा, क्योंकि उपनिषदों का समस्त प्रयत्न परमतत्त्व ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने में ही है।

कठोपनिषद् की षष्ठ वल्ली में ब्रह्मविषयक दो प्रकार की बुद्धियों की चर्चा आती है। एक आस्तिक बुद्धि व दूसरी नास्तिक बुद्धि। 'वह ब्रह्म वाणी से, मन से, आँखों से नहीं पाया जा सकता।' 'अस्ति इति' वह है- इसके अतिरिक्त उसे कैसे पाया जा सकता है?[2] इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया है- वह है या नहीं है- इन दोनों की तात्त्विक विवेचना करके 'अस्ति इति'- 'वह है' यह कहकर ही उसे पाया जा सकता है। जिसने 'अस्ति'- 'वह है। इस प्रकार उसे प्राप्त कर लिया है, उसका तात्त्विक-विवेचन शुद्ध विवेचन है।[3] इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार कर ही उसे पाया जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक में अंगिरा ने शौनक को ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। विद्या दो प्रकार की है- परा, अपरा।[4] जिस विद्या से अक्षर ब्रह्म का

---

[1] **उपाचार्या, संस्कृत विभाग, एस.डी. (पी.जी.) कॉलेज, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.**

[2] कठोपनिषद्- ६/१२- नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥

[3] वही, ६/१३- अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥

[4] मुण्डकोपनिषद्- १/४ द्वे विद्ये वेदितव्ये-----परा चैवापरा च।

ज्ञान हो, वह 'परा विद्या'[5] कहाती है। ब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करने के लिए मुण्डकोपनिषत्कार का कथन है- **यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।**[6]

परा विद्या' से जिस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है वह देखा नहीं जा सकता, ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नहीं, उसके आँख-कान नहीं, हाथ पाँव नहीं। वह नित्य है, विभु है, सब जगह पहुँचा हुआ है किन्तु सूक्ष्म है, अव्यय है, सब भूतों का कारण है। धीर लोग परा विद्या से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं। वह ब्रह्म 'अक्षर' नाम से भी अभिहित है-

तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्।[7]

जैसे मकड़ी अपने शरीर के भीतर से जाले का सृजन करती है और फिर उसे समेट लेती है, जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुष के शरीर से केश-लोम निकलते हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म के प्रकृति-रूपी शरीर से विश्व हो जाता है। वह ब्रह्म तप से बढ़ता है[8] और उसका तप ज्ञानमय है।[9] ब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करते हुए आगे ऋषि कहते हैं-

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।[10]

वह ब्रह्म सर्वज्ञ है, सब जगह पहुँचा हुआ है, ज्ञान ही उसका तप है। उस तप से ही नाम, रूप वाला जगत् और यह अन्न उत्पन्न होता है। उस अक्षर ब्रह्म से विविध 'भाव' अर्थात् चेतन और जड़ जगत्, सत्तारूप जगत् उत्पन्न होता है और उसी अक्षर

---

[5] वही- १/५ अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

[6] वही- १/६

[7] वही- १/७ यथोर्णनाभिः सृजते---।

[8] वही- १/८ तपसा चीयते ब्रह्म--।

[9] वही- १/९ यस्य ज्ञानमयं तपः---।

[10] वही- १/९ यः सर्वज्ञः---।

ब्रह्म में लौट जाता है।[11] ब्रह्म के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ऋषि कहते हैं-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥[12]

वह चेतन सत्ता रूप ब्रह्म दिव्य आभायुक्त होता हुआ भी अमूर्त है। बाहर होता हुआ भी अन्दर है, संसार को उत्पन्न करता हुआ भी स्वयं उत्पन्न नहीं होता, प्राण का संचार करते हुए भी स्वयं अप्राण है, सब मनों को प्रेरणा देते हुए भी उसका अपना मन नहीं है, वह अक्षर है परन्तु उसका शुभ्र रूप तो अक्षर से भी परे है। इस प्रकार कई दृष्टिकोणों का एकत्र समन्वय होने से यहाँ समन्वयविधि है।[13] इस प्रकार ऋषि ने समन्वयविधि द्वारा ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट किया।

ऋषि का कथन है कि वह ब्रह्म प्रकाशमान है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है परन्तु जिसमें स्थूल से भी स्थूल लोक निहित हैं, इन लोकों में जिनका वास है वे प्राणी भी जिसमें निहित हैं, वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वह वाणी है, वही मन है, वही सत्य है, वही अमृत है, हे सौम्य! यह जान ले कि वही तेरा लक्ष्य है, उसी को तूने बींधना है।[14] आगे ऋषि कहते हैं कि औपनिषद महास्त्र = ब्रह्म विद्या रूप धनुष को ग्रहण करके उपासना रूप तेज शर का सन्धान करके, उस ब्रह्म में लीन हुए चित्त से धनुष को खींचकर, 'अक्षर' रूप लक्ष्य का वेधन कर डाल।[15] सृष्टि में जो आनन्द की, अमृत की झलक है- समस्त में उसी की झलक दीख रही है- आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति ब्रह्म[16] के सर्वव्यापकत्व को बहुत अधिक स्पष्ट करने के लिए ऋषि का कथन

---

[11] वही- २/१ तदेतत् सत्यं-- तथाक्षराद्विविधाः---।

[12] वही- २/२

[13] संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इतिहास- आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, द्रष्टव्य- उपनिषदों की वर्णन शैलियाँ- पृ०. ४८।

[14] मुण्डकोपनिषद्- २/२ 'यदर्चिमद्यदणुभ्यो अणु---।

[15] वही- २/२ 'धनुगृहीत्वौपनिषदं महास्त्रम्---।

[16] वही- २/७

है- वह अमृत ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण में है, ब्रह्म ही उत्तर में है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, इस सम्पूर्ण विश्व-संसार में जो कुछ भी वरिष्ठ है, सब ब्रह्म ही का प्रसार है, उसी का विस्तार है।[17] समन्वयविधि से ही ऋषि ब्रह्म के गुणों को प्रस्तुत करते हैं- वह ब्रह्म महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य रूप है, परन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में भी प्रकाशित हो रहा है। वह दूर से दूर है, परन्तु देखने वालों के लिए निकट से निकट अन्तरात्मा की गुफा में मौजूद है।[18] शुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति ही ज्ञान के प्रसाद में उस ब्रह्म को प्राप्त कर पाता है।[19] वास्तव में वह ब्रह्म जिसका वरण कर लेता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है।[20] मुण्डकोपनिषत्कार ऋषि कहते हैं कि जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। वह रहस्यपूर्ण उलझनों से मुक्त होकर अमर हो जाता है, निष्पाप हो जाता है, वीतशोक हो जाता है। उसके कुल में भी कोई अब्रह्मविद् नहीं रहता।[21]

माण्डूक्योपनिषत्कार का कथन है कि ब्रह्म का वाचक नाम ओ३म् है, यह निखिल संसार उस अक्षर ब्रह्म की व्याख्या मात्र है। भूत, वर्तमान, भविष्यत्- सब ब्रह्म का ही विस्तार है जो भूत, वर्तमान, भविष्यत्- इन तीनों कालों में ही नहीं समाता, जो त्रिकालातीत है, वह भी ओंकार का ही प्रसार है।[22]

तैत्तिरीय-उपनिषद् में भृगु को वरुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं- अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी- जिससे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसे जानो वह ब्रह्म है।[23] भृगु ने तप किया फिर वह

---

[17] वही- २/११ 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्---|

[18] वही- ३/७ 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्---।

[19] वही- ३/८ 'न+चक्षुषा---- ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः--।

[20] वही तृतीय मुण्डक- द्वितीय खण्ड- तृतीय श्लोक। ३/२/३

[21] वही- ३/२/९

[22] माण्डूक्योपनिषद्- १/१

[23] तैत्तिरीयोपनिषद्- भृगु वल्ली, प्रथम अनुवाक

अन्न[24], प्राण[25], मन[26], विज्ञान[27] आदि तत्त्वों को क्रमशः ब्रह्म' मानता गया और उसके गुरु पिता वरुण ने हर बार उसे आगे-आगे चलने को कहा। जब मनुष्य अन्नमय शरीर के क्षेत्र में रहता है, तब 'अन्न' को ही ब्रह्म समझता है, क्योंकि उस समय वह 'अन्नमय कोश' से ही सोच-समझ सकता है। जब मनुष्य प्राणमय कोश द्वारा सोचने लगता है, तब उसे सर्वत्र प्राण-ही-प्राण व्याप्त दीखता है और वह प्राण को ही ब्रह्म समझने लगता है। इसी प्रकार आगे-आगे चलते-चलते उसे ज्ञान होने लगता है कि ये सब ब्रह्म नहीं हैं। वरुण ऋषि का कथन है कि जो इस क्रम से ब्रह्म विद्या को जानता है, वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है।[28] ब्रह्मज्ञान में अन्नमयकोश आदि पाँचों कोश ज्ञान के क्रमिक साधन हैं। अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से विज्ञान, विज्ञान से आनन्द-इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना यही तैत्तिरीयोपनिषत्कार ऋषि की ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की विधि है। छान्दोग्योपनिषत्कार का कथन है कि न वहाँ कभी अस्त होता है, न उदय- वह सत्य–ब्रह्म की अवस्था है।

हे देवों! मुझे उस 'सत्य-ब्रह्म' से कभी दूर मत करो।[29] जो उपनिषद् के इस सत्य–ब्रह्म को जान जाता है, उसके लिए उदय-अस्त नहीं होता, उसके लिए तो एकदम प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है।[30] छान्दोग्योपनिषद् में जाबाल सत्यकाम की एक कथा के माध्यम से ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। जाबाल सत्यकाम गौतम-गोत्री हारिद्रुमत मुनि के पास जाकर बोला, हे भगवन्! मुझे ब्रह्मोपदेश दीजिए।[31] गुरु ने कृश तथा निर्बल ४०० गौएं छांटकर उनसे कहा- इनकी सेवा

---

[24] वही- भृगुवल्ली, द्वितीय अनुवाक

[25] वही- तृतीय अनुवाक

[26] वही- चतुर्थ अनुवाक

[27] वही- पंचम अनुवाक

[28] वही- षष्ठ अनुवाक

[29] छान्दोग्योपनिषद्- ३सरा प्रपाठक, ११वाँ खण्ड, २ श्लोक

[30] वही- ३/११/३

[31] वही- ४/४/१-३

करो। सत्यकाम ने गुरु से कहा- जब तक ये १००० नहीं हो जाएंगे, मैं नहीं लौटूँगा।[32] कथा बहुत लम्बी है। वास्तव में ब्रह्म प्राप्ति धीर लोग ही कर पाते हैं। कथा का भावसार यह है कि प्रकृति में आँख खोलकर फिरते हुए जैसे सत्यकाम को बैल[33], अग्नि[34], सूर्य[35] तथा वायु[36] से ब्रह्मज्ञान हो गया, वैसे जो भी आँखें खोलकर देखेगा उसे ब्रह्मज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा। वन-वन में भ्रमण करने वाले सत्यकाम को सभी ने यह ब्रह्मोपदेश किया कि अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्- सबमें ब्रह्म की ही ज्योति छिटक रही है। उसी की ज्योति से सब ज्योतिष्मान् हैं। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु को उसके पिता ने 'तत्त्वमसि'[37] के माध्यम से ब्रह्मोपदेश दिया है। उपिनषदों का प्रतिपाद्य विषय शरीर से आत्मा की ओर ले जाना है, प्रकृति से ब्रह्म की ओर ले जाना है। पिंड में यथार्थ सत्ता शरीर की नहीं, आत्मा की है। ब्रह्माण्ड में यथार्थ-सत्ता प्रकृति की नहीं, ब्रह्म की है। पिंड में आत्मा को लक्ष्य बनाना है, ब्रह्माण्ड में ब्रह्म को लक्ष्य बनाना है। वास्तविक तत्त्व यही है, वास्तविक 'सत्' यही है। तत्त्वम् असि- तू तत्त्व है, तू सत् है- सार है। ऋषि का कहना है-

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।[38] भूमा क्या है? ऋषि का कहना है- जिस परम शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही 'भूमा' है, जहाँ आत्मा अन्य वस्तु को देखता है, सुनता है, जानता है, वही अल्प है। जो 'भूमा' है, वह 'अमृत' है, जो 'अल्प' है वह मर्त्य है।[39] छान्दोग्योपनिषत्कार ऋषि प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचन की कथा के माध्यम से ब्रह्मोपदेश करते

[32] वही- ४/४/५

[33] वही- ४/५/२ चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम।

[34] वही- ४/६/३ चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम।

[35] वही- ४/७/३ चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम।

[36] वही- ४/७/३ चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम।

[37] वही- ६/८-१६ खण्ड

[38] वही- ७/२३/१

[39] वही- ७/२४/१

हैं।[40] प्रजापति ने इन्द्र से कहा- हे इन्द्र! सुषुप्त समय में आत्मा नहीं सोता, शरीर सोता है, आत्मा जडवत् नहीं होता है, शरीर जड़वत् होता है। उस समय की अवस्था को जानकर ही तो तू आत्मा के स्वरूप को जान सकता है। जो देवगण ब्रह्म-ध्यान में लीन रहते हैं, वे इसी आत्मा की उपासना करते हैं इसलिए सब लोक और सब कामनाएं उनके वश में रहती हैं। जो उस आत्मा को ढूंढकर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है,[41] ऐसा प्रजापति ने इन्द्र से कहा। इस प्रकार वह आत्मा शरीर से भिन्न है, वह ब्रह्म प्रकृति से भिन्न है । बृहदारण्यकोपनिषद् में अजातशत्रु का दृप्त बालाकि को ब्रह्मोपदेश वर्णन है। वहाँ ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन है- मूर्त तथा अमूर्त। मर्त्य तथा अमृत, स्थित तथा त्यत्। सत् तथा त्यत् अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष।[42] समाधि अवस्था में उपासक को ब्रह्म का जो रूप दीख पड़ता है, वह ऐसा है, जैसे केसर के रंग से रंगा महा-वस्त्र हो, पाण्डु-वर्ण की ऊन हो, बीर बहूटी की लालिमा की तरह, अग्नि की ज्वाला की तरह, श्वेत पुंडरीक की तरह, एक बार की विद्युत् की लपट की तरह। जो इस रहस्य को जानता है, उसकी शोभा विद्युत् के प्रकाश की भांति हो जाती है। वर्णनातीत होने से ब्रह्म के लिए 'नेति नेति' का आदेश है।[43] याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मा का, ब्रह्म का उपदेश देते हैं-

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो---' जिस आत्मा के लिए यह सब प्रिय होता है, अरे, वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है- उसी को देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का ध्यान कर। अरे मैत्रेयि! आत्मा के ही देखने से, सुनने से, समझने से और जानने से सब गांठे खुल जाती हैं।[44]

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को 'आत्म तत्त्व' का उपदेश देते हुए ब्रह्माण्ड (समष्टि) तथा

---

[40] वही- ८/७-५

[41] वही- /१२/६

[42] बृहदारण्यकोपनिषद्- २.३.१

[43] वही- २.३.६

[44] वही- २.४.५

पिंड (व्यष्टि)- इन दोनों में 'आत्म तत्त्व' है, इस रहस्य को मधु विद्या के माध्यम से समझाते हैं। यह आत्मा जिस रूप के साथ अपने को जोड़ लेता है उसी का प्रतिरूप हो जाता है परन्तु यह प्रतिरूप भाव सिर्फ देखने मात्र का है, आत्मा का यथार्थ रूप नहीं बदलता। इसका अपना रूप शुद्धरूप ब्रह्म है, अपूर्व और अपर है अनन्त और अबाह्य है। यह ऐसा है- जिसके कोई पूर्व नहीं, जिसके कोई पीछे नहीं, जिसके कोई भीतर नहीं, जिसके कोई बाहर नहीं। यह आत्मा-ब्रह्म है। प्रत्येक प्राणी इस तत्त्व को अपने भीतर अनुभव करता है। वह ब्रह्म सर्वानुभूः है।[45]

वास्तव में ब्रह्म एक विलक्षण तत्त्व है जिसे परिभाषा में बाँधना अत्यधिक कठिन कार्य है। कहीं 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[46] तो कहीं तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके[47] कहा गया है। कहीं उसे अपाणिपादो जवनो ग्रहीता[48] तो कहीं न तस्य प्रतिमास्ति[49] कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म या ईश्वर को विश्वकृत् व विश्ववित् कहा है।[50] ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व को सिद्ध करते हुए कहा है कि वही सब दिशाओं में है, वही गर्भ में व गर्भ के बाहर है, वह सर्वतोमुख है।[51] जैसे तिलों में तेल, दधि में घृत, धाराओं में जल, काष्ठ में अग्नि व्याप्त है इसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् के कण-कण में व्याप्त है।[52] वह सबको देखने वाला है, सब जगह उसका मुख है, उसके हाथ-पाँव सब जगह हैं।[53] सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से व्याप्त है।[54] वही सर्वव्यापी परमात्मा ब्रह्म सब

---

[45] वही- २.५.१९

[46] श्वेताश्वतरोपनिषद्- ३.२०

[47] ईशोपनिषद्- ५

[48] श्वेताश्वतरो.- ३/१९

[49] वही- ४.१९

[50] वही-६/१६

[51] वही- २/१६

[52] वही- १/१५

[53] वही- २/६

[54] ईशोपनिषद्- १

भूतों में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त है।[55]

श्वेताश्वतरोपनिषत्कार का कथन है कि वह ब्रह्म स्वतन्त्र है, ब्रह्माण्ड को वह स्वतन्त्र रूप से चलाता है, वह सब का स्वामी है, उसका स्वामी कोई नहीं।[56] वह ब्रह्म नित्य पदार्थों में सर्वाधिक नित्य और चेतन पदार्थों में सर्वाधिक चेतन है।[57]

वह ब्रह्म ईश्वरों का परम-महेश्वर है, वह देवों का परम-देव है, वह पतियों का परम-पति है, वह परे से भी परे है, भुवन के स्वामी, स्तुति के योग्य उस देव को हम जानते हैं। यथा-

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिः पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥[58]

वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता है, वह जो कुछ करता है उसके लिए उसे साधनों की आवश्यकता नहीं, उसके समान कोई नहीं दीख पड़ता, उससे अधिक कोई नहीं दीख पड़ता। सुनते हैं- उसकी परम शक्ति है, विविध शक्ति है, उसमें ज्ञान-बल-क्रिया ये तीनों स्वाभाविक हैं अर्थात् किसी अन्य कारण पर आश्रित नहीं-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥[59]

उपर्युक्त अनुशीलन के आधार पर कहा जा सकता है कि औपनिषत्क ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में सर्वोच्च सत्ता के रूप में हुआ है। वास्तव में वह ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निश्चल, नित्य, निर्विकार, असङ्ग, कूटस्थ, शुद्ध चेतन, नित्यमुक्त और स्वयम्भू है। ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को जानकर ही मुक्ति सम्भव है। ब्रह्म के वास्तविक रूप को सरल और सुगम रूप में कथा व आख्यानों के माध्यम से समझाने में उपनिषदें महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

---

[55] श्वेताश्वतः ६/११

[56] श्वेताश्वतरो. ६/९ न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके---।

[57] वही- ६/१३ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्---।

[58] वही- ६/७

[59] वही- ६/८

छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित धर्म

डॉ० शुचि अग्रवाल[1]

वेद शब्द का शाब्दिक अर्थ ज्ञान है। वेदरूपी पुरुष के शिरोभाग को उपनिषद् कहते हैं। उप और नि ये दो उपसर्गपूर्वक **षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु** धातु से क्विप् प्रत्यय लगाने से उपनिषद् शब्द बनता है।" **उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।**" तात्पर्य है कि जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, वे उपनिषद् कहलाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही प्रधानता से विवेचन हुआ है, अत: उपनिषद् को अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्म के प्रतिपादक वेद के शिरोभाग अथवा अन्त में होने से ये वेदान्त या उत्तरमीमांसा भी कहे जाते हैं। उपनिषदों का विषय मूलतः अत्यधिक गूढ़ रहा है। उपनिषद् साहित्य आध्यात्मिक ज्ञान की वह अमूल्य निधि है जिसका अवलोडन कर मानव अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों को प्राप्त कर सकता है। वेदज्ञान विज्ञान और भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत हैं, उपनिषद् उस ज्ञान और संस्कृति की पराकाष्ठा है।

उपनिषदों का भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से ही संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा ज्ञान होता है। **सत्यं वद, धर्मं चर**[2] जैसे वाक्य हमें नैतिक मूल्यों की ओर अग्रसर कर आचार, कर्त्तव्य और व्यवहार की अनेक उपयोगी बातें सिखाते हैं। **सत्यमेव जयते**[3] आज भी हमारे देश का शिरोधार्य वाक्य है।

---

[1] **वरिष्ठप्रवक्त्री, एस.डी.कालेज, मुजफ्फरनगर**

[2] तैत्तिरीय उपनिषद् - १.११.१

[3] मुण्डकोपनिषद् - ३.१.६

उपनिषदें भारतीय दर्शन, धर्म तथा जीवन को उन्नत बनाने में पूर्णरूपेण सहयोगी रही हैं।[4]

वैदिक संहिताओं से सम्बन्धित कुछ प्रमुख उपनिषदों में छान्दोग्योपनिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान है। छान्दोग्योपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध प्रमुख उपनिषद् है। परन्तु वह सामवेद की कौन-सी शाखा तथा ब्राह्मण से सम्बद्ध है, यह स्पष्ट नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् आठ प्रपाठकों में विभक्त है और प्रत्येक प्रपाठक खण्डों में विभक्त है। पुनः ये खण्ड विभिन्न प्रवाकों में विभक्त हैं। ब्रह्म की व्यापकता का निरूपण वा आत्मज्ञान उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य है। किंतु इसके साथ संस्कृति, समाज, संस्कार, कला तथा धर्म जैसे आधारभूत तत्त्वों का विशद वर्णन भी छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त होता है। इस शोधपत्र में छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त धार्मिक आदर्शों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

धर्म उस अलौकिक और रहस्यमय शक्ति का प्रतीक है, जिसकी नींव पर व्यष्टिरूप में मानव और समष्टिरूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है। धर्म केवल आचारसंहिता मात्र नहीं है, उसकी धारणा में नैतिकता और आध्यात्मिकता का समावेश है।[5] इसका सम्बन्ध उन महनीय तत्त्वों से है जिनके आश्रय से मानव अभ्युदय और निःश्रेयस् को प्राप्त होता है। वस्तुत: उपनिषदों में धर्म का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है आत्मज्ञान की प्राप्ति रूप मोक्ष, जो कि दर्शन का विषय है।

छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के उदात्त रूप के दर्शन होते हैं। इसमें स्थान-स्थान पर नैतिकता और समाचार का उपदेश है जो मानव को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर करता हुआ उस सूक्ष्म तत्त्व की प्राप्ति के योग्य बनाता है, जिसे उपनिषद् ब्रह्म के नाम से

---

[4] The upanisadas have donatial indian philosophy, religion and life for nearly three thousand years. Dr. radhakrishnan & charles. A. moore- A Source book in indian philosophy. P. ३७

[5] रूढ़िगत विचारों का अनुसरण या विशेष प्रकार की पूजा-पद्धति को धर्म नहीं कहते अपितु सभी उदात्त गुणों एवं उत्तम कर्मों की समष्टि का नाम धर्म है। इसमें नैतिकता एवं आध्यात्मिकता है। डॉ. श्रीनिवास शास्त्री - वेद तथा ऋषि दयानन्द, पृ. १७२

पुकारती है। यही कारण है कि धर्म के साथ कर्म की व्याख्या की गयी है।

छान्दोग्योपनिषद् में यज्ञ, अध्ययन, दान, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, उपासना, तप आदि अनेक धार्मिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है । इसमें धर्म के तीन स्कन्ध बताए गए हैं-

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं...... दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति।[6]

अर्थात् यज्ञ, अध्ययन और दान प्रथम, तप द्वितीय तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए जीवन पर्यन्त आचार्यकुल में वास करना तृतीय स्कन्ध में बताया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी यज्ञ, दान और तप को धर्म के तीन आधारस्तम्भ बताते हुए कहा गया है कि जो इनका पालन करता है वह पुण्य लोकों को प्राप्त करता है तथा जो इनका पालन करते हुए ब्रह्मभाव में सम्यक् प्रकार से स्थिर रहता है वह अमृतत्त्व (मोक्ष) को प्राप्त होता है।[7]

यज्ञ- उपनिषद् में यज्ञ का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसमें यज्ञ का तात्पर्य मात्र अग्निहोत्र यज्ञादि तक सीमित नहीं है अपितु **पुरुषो वाव यज्ञः**[8] द्वारा मानव जीवन को यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। जिसमें सम्पूर्ण जीवन-काल को तीन भागों में विभाजित कर उन्हें प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन तुल्य कहा है। तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य को उस जीवन यज्ञ की दक्षिणाएं कहा गया है।[9] अभिप्राय यह है कि जीवन की सम्पूर्णता और सफलता धर्म है अतः इन उपर्युक्त गुणों का जीवन में पालन किया जाए।

इस सवनत्रय के अनुष्ठान के महत्त्व को और अधिक बताते हुए इस उपनिषद् में

---

[6] छान्दोग्योपनिषद् २.२३.१

[7] यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। श्रीमद्भगवद्गीता १८.५

[8] पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवने। छान्दोग्योपनिषद् ३.१६.१ से ३.१६.४

[9] अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। वही ३.१७.४

कहा गया है कि जो सवनत्रय को अच्छी प्रकार से जानता हुआ इनका अनुष्ठान करता है वह रोगमुक्त होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है। वह जो खाता है, जो पीता है, वह ऋत्विजों के समान ही है और जो हंसता है, गमन करता है, संयोग करता है वह स्त्रोत और शस्त्र के समान है।[10] उसका पुनर्जन्म सोष्यति और असोष्ट क्रिया के समान है और मरण अवभृथ (एक प्रकार का पवित्र स्नान) के तुल्य है।[11]

छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम प्रपाठक में **यज्ञं विततम्**[12] पदों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिससे विदित होता है कि बड़े-बड़े यज्ञों का भी प्रचलन था, जिन्हें प्रस्तोता[13], उद्गाता[14], प्रतिहर्ता[15] नामक ऋत्विजों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। यदि ऋत्विक् अपने-अपने उद्गीथ आदि स्तुतियों से अनुगत देवताओं को न जानते हुए ही ऋत्विक् कार्यों में प्रवृत्त होते थे तो उनका सिर गिर जाता था।[16]

अन्यत्र वायु को यज्ञ का कारण बताया गया है तथा मन और वाणी को यज्ञ की दो वर्तनियों के रूप में बताया गया है।[17] ब्रह्मा नामक ऋत्विक् उन दोनों में से एक वर्तनी को मन से संस्कृत करता है और दूसरी वर्तनी को होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी से संस्कृत करते हैं। यदि ब्रह्मा नामक ऋत्विक् प्रातरनुवाक के प्रारम्भ हो जाने पर परिधानीया ऋचा

---

10 वही ३.१६.६ से ३.१७.४

11 (क) तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनस्त्यादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथ

(ख) Bathing at the end of a principal sacrifice for purification.

- Vaman Shivram Apte. Sanskrit english Dictionery

12 तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाया - छान्दोग्योपनिषद् १.१०.७

13 (क) स ह प्रस्तोतारमुवाचाप्रस्तोतंर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता। ताञ्चेरविद्वान् प्रस्तोष्यसि। मूर्ख ते विपतिष्यतीति। - वही १.१०.८ (ख) वही १.११.४

14 (क) एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातय्र्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। ताञ्चेरविद्वानुद्गास्यसि। मूद्ध ते विपतिष्यतीति। वही - १.१०.१६ (ख) वही १.११.६

15 (क) एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच............ वही १.१०.११ (ख) १.११.८

16 तस्मादेप एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी। - वही ४.१६.०१

17 तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा। वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतरां स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाक पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदति। वही ४.१६.२

के उच्चारण के पूर्व बोल उठता है तो उस यज्ञ की एक वर्तनी नष्ट हो जाती है और वह यज्ञ भी उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है जिस प्रकार एक चक्र पर चलने वाला रथ । यज्ञ के नष्ट हो जाने पर वह यजमान भी नष्ट हो जाता है।[18]

यज्ञानुष्ठान में हुए अन्य दोषों के परिहार के लिए कहा है कि जब यज्ञ में ऋग्वेद सम्बन्धी क्षति होती है तो उसके सन्धान के लिए गार्हपत्याग्नि कुण्ड में '**भूः स्वाहा**' इस प्रकार पढ़कर होम करें क्योंकि भूः नामक व्याहृति ऋग्वेद का सार है। यदि यज्ञ में यजुर्वेद सम्बन्धी क्षति होती है तो उसके सन्धान के लिए दक्षिणाग्नि में 'भुवः स्वाहा' पढ़कर होम करें क्योंकि भुवः नामक व्याहृति यजुर्वेद का सार है। इसी प्रकार सामवेद सम्बन्धी क्षति होने पर स्वः स्वाहा बोलकर आहवनीय अग्नि में होम करें क्योंकि स्वः व्याहृति सामवेद का सार है। सन्धान का कार्य ब्रह्मा नामक ऋत्विक् करता है। वही यज्ञ, यजमान एवं अन्य ऋत्विकों की रक्षा करता है। इस हेतु एवंविद् ऋत्विक् को ही ब्रह्मा ऋत्विक् का कार्य देना चाहिए।[19]

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय प्रपाठक में प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन का वर्णन किया गया है।[20] पांचवे प्रपाठक में यज्ञ से सम्बद्ध एक अन्य प्रकरण है जो कहता है कि यदि पुरुष महत् की प्राप्ति की इच्छा करता है तो वह अमावस्या तिथि में दीक्षित होकर पूर्णिमा तिथि की रात्रि में सर्वोषध के मन्य को दधि और मधु के साथ मिलकर '**ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा**' इस प्रकार बोलकर अग्नि में घी का हवन कर सुवा लगा हुआ द्रव्य मंथ नामक पात्र विशेष में रख दें-

अथ यदि महाज्जिगमिषेदमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमस्या रात्रौ सर्वोषधस्य मन्थं दधिमधुनो रूपमस्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्ये सम्पातमवनयेत्।[21]

इसी प्रसंग में '**वसिष्ठाय स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा सम्पदे स्वाहा आयतनाय**

---

[18] अन्यतरामेव वर्तनिं संस्करोति हीयतेऽन्यतरा।.....यज्ञं रिष्यन्तं य

[19] यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषतकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति। - वही ४.१७.८-१०

[20] ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां माध्यन्दिनसवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम्।- वही २.२४.१

[21] वही ५.२.४

स्वाहा' नामक घृताहुतियों का भी उल्लेख आया है।[22]

सम्भवतः यज्ञ दैनिक क्रिया कलाप का एक अंग है। एक स्थल पर राजा अश्वपति कहते हैं कि उनके राज्य में कोई अनग्निहोत्री नहीं है।[23] इस प्रकार यज्ञ धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग था।

अध्ययन- छान्दोग्योपनिषद् में अध्ययन को धर्म के प्रथम स्कन्ध यज्ञ के अंग के रूप में वर्णित किया गया है। इसके अनुसार अध्ययन क्रम जीवन पर्यन्त चलता था। जीवन का प्रथम चरण अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम का तो उद्देश्य ही शिक्षा प्राप्ति था। किंतु गृहस्थ का भी प्रमुख कर्त्तव्य स्वाध्याय था। वानप्रस्थी भी अरण्यों में रहते हुए अध्ययन-अध्यापन में रत दिखाई पड़ते थे। संन्यासी तो अपना शेष जीवन ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या जैसी आध्यात्मिक गुत्थियों के सुलझाने में ही व्यतीत कर देते थे।

अधिकांशतः मनुष्य ज्ञान के द्वारा न केवल धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति करता है अपितु मोक्ष की भी प्राप्ति करता है। उपनिषद् के अन्त में कहा गया है- जो व्यक्ति आचार्यकुल से वेदों का अध्ययन करके यथा विधान गुरु के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करके, समावर्त्त होकर कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ आयुपर्यन्त रहता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है तथा पुनः नहीं लौटता।[24]

दान- यज्ञ और अध्ययन के साथ दान धर्म का प्रथम स्कन्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में अनेक प्रकार के दान का उल्लेख मिलता है किंतु इसमें विद्या को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है- 'यदि कोई समुद्र परिवेष्टित और धन से परिपूर्ण पृथ्वी भी दे तो भी उस दान से यह विद्या दान अधिकतर है।[25]

---

[22] वही ५.२.५

[23] न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ वही ५.११.५

[24] आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानगुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि एवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते। वही ८.१५.१

[25] यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णा दद्यादेतदेव ततोभूय इत्येतदेव ततो भूय इति। - वही ३.११.६

एक प्रसंग में कहा गया है कि राजा जनश्रुति......... श्रद्धादायी, बहुदायी और बहुपाक्य राजा था जिसने स्थान-स्थान पर ऐसे आवास, धर्मशालाएं आदि बनवा रखे थे जहां पर यात्रिगण विश्राम करते थे तथा नि:शुल्क भोजन ग्रहण भी करते थे।

जानश्रुतिर्ह- श्रद्धादयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽस्यतीति ।[26]

पांचवे प्रपाठक में उल्लेख है कि जो उपासक ग्राम में रहते हुए इष्ट (अग्निहोत्र वैदिक कर्म) आपूर्त प्रजा के लिए बाबली, कूएँ, तालाब, वृक्षादि लगाते थे तथा दान करते हैं वे पितृलोक को प्राप्त करते हैं।[27]

तप- धर्म का द्वितीय स्कन्ध तप को बताया गया है। तप मानव जीवन का प्रमुख अंग है । तप के आचरण से ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार तप के आश्रित होकर ही प्रजापति ने लोक-लोकान्तर को प्रकाशित किया है। तप के द्वारा ही त्रयीविद्या का आविर्भाव एवं त्रयीविद्या से भूः भुवः स्वः तीनों व्याहृतियों के आविर्भाव का कथन है तथा इन व्याहृतियों को उद्दीप्त करने पर ओंकार रूप ब्रह्म के प्रकाशित होने का उल्लेख है।[28]

तप का महत्त्व बताते हुए मधुविद्या के प्रकरण में तप से त्रयीविद्या के ज्ञान का विस्तृत वर्णन है जो कि यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्यादि की प्राप्ति में हेतु है।[29]

चौथे प्रपाठक में भी प्रजापति द्वारा लोकों को लक्ष्य बनाकर ध्यान रूप तप के किए जाने का उल्लेख है। उन तप किए लोकों से उन्होंने अनेकानेक सार रूप रसों का ग्रहण किया।[30]

---

[26] वही ४.१.१

[27] अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते ..... वही ५.१०.३

[28] प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्यीविद्या सम्प्रास्रवन्तामभ्यतपन्तस्य अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति। तान्यभ्यतपन्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः। ....वही २.२३.२-३

[29] वही ३.१.३ से ३.३.२ तक

[30] वही ४.१७.१ से ४.१७.३ तक

तप आत्मज्ञान की प्राप्ति में एक महत्त्वपूर्ण साधन है। ब्रह्मचारी के लिए तप को दक्षिणा कहा गया है।[31] ब्रह्मचर्य और तप का अविनाभावेन सम्बन्ध है। सत्यकामजाबाल, उप कोसल, इन्द्र, विरोचन आदि के द्वारा जो अनेकों वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया गया वह स्वयमेव उनके तपोमय जीवन की ओर संकेत है।

शंकराचार्य ने तप का अर्थ कृच्छ्रचान्द्रायणादि किया है तथा इसे वानप्रस्थ और परिव्राजक का धर्म कहा है । इनके अनुसार परिव्राजक के ज्ञान, यम और नियम तप ही हैं ।[32] किंतु उन्होंने केनोपनिषद् के भाष्य में तपः कायेन्द्रियमनसा समाधानम्[33] कहकर शरीर, इन्द्रिय और मन के समाधान को तप कहा है।

यज्ञ, दान और तप का परम प्रयोजन साधक के शरीर एवं मन को शुद्ध करना ही है। जैसा कि भगवद्गीता में भी कहा है- **यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्**।[34] छान्दोग्योपनिषद् दान न देने वाले, श्रद्धा न करने वाले तथा यज्ञ न करने वाले व्यक्ति को असुर स्वभाव वाला कहता है[35] तथा श्रद्धा और तप में लीन रहने वालों को ब्रह्मलोक का अधिकारी बताता है।[36]

ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्था का अंग होकर तो समाज से सम्बद्ध है लेकिन मन, वचन और कर्म में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना धर्म का अंग है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य को धर्म के एक स्कन्ध के रूप में वर्णित किया गया है जो इसकी अनुपम महत्ता को द्योतित करता है । इसका तात्पर्य इन्द्रिय-संयम की भावना में निहित है।

उपनिषद् के आठवें प्रपाठक में ऋषि ने ब्रह्मचर्य को यज्ञ की संज्ञा से अभिहित किया है जिसको यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि जो ब्रह्मचर्य रूप साधन से ज्ञाता

---

[31] अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा। ..... वही ३.१७.४

[32] तप एव द्वितीयस्तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादि .... परिव्राजकस्यापि ज्ञानं यमा नियमाश्च तप एवेति। ....वही २. २३ पर शा.भा.

[33] केनोपनिषद् ४.८ पर शांकरभाष्य

[34] श्रीमद्भगवद्गीता १८.५

[35] तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धधानमयजमानमाहुरासुरो.... छा. उप. ८.८.५

[36] वही ५.१०

बनता है वही उसको प्राप्त करता है । जिसको 'इष्ट' कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, उस ब्रह्मचर्यरूप साधन के द्वारा ही ब्रह्म को पूज कर आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है।[37]

जो इस ब्रह्म को ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं उन्हीं को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है तथा वे स्वेच्छानुसार लोक-लोकान्तरों में विचरण करते हैं।

इसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि आत्मज्ञान की प्राप्त्यर्थ विरोचन ने ३२ वर्ष तथा इन्द्र ने १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया।[38] तात्पर्य यह है कि यद्यपि यज्ञ, इष्ट आदि अनेक साधन ब्रह्मप्राप्ति में हेतु कहे गए हैं परन्तु वे सब ब्रह्मचर्य के द्वारा ही साध्य हैं। अतः ब्रह्मप्राप्ति का मूल कारण ब्रह्मचर्य ही है।

धर्म के इन तीन स्तम्भों के अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यमों का उल्लेख भी प्राप्त होता है जो धर्म के आधारभूत तत्त्वों में ही हैं।

अहिंसा- छान्दोग्योपनिषद् कहता है-

अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः अर्थात् प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

एक अन्यत्र प्रसंग में कहा गया है कि **संवत्सरमज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतम्** अर्थात् वर्ष भर कभी भी मांस न खायें इस व्रत को धारण करें । इस उक्ति के द्वारा भी हिंसा का निषेध होता है।

वस्तुतः प्राणियों की हिंसा की तो बात दूर रही, वाणी से कटु वचन बोलने तक को हत्या करने के सदृश माना गया है- वह यदि पिता, माता, भ्राता, बहिन, आचार्य अथवा ब्राह्मण आदि किसी को भी कटु वचन कहता है तो उसे लोग कहते हैं कि तुम्हें धिक्कार है, तुम पितृघाती हो, मातृघाती हो, भ्रातृघाती हो, स्वसृघाती हो, आचार्यघाती हो अथवा ब्राह्मणघाती हो।[39]

सत्य- सत्य को धर्म की उत्पत्ति में हेतु बताया गया है। कहा भी गया है कि धर्म की

---

[37] अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽत्मानमनुविन्दते। - वही ८.५.१

[38] वही ८.७.३ से ८.११.३

[39] य यति पितरं मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्य वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह....ब्राह्मणहा वै त्वमसीति।..... वही ७.१५.२।

उत्पत्ति सत्य से होती है तथा यह दान से बढ़ता है, क्षमा में निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है।[40] सत्यकाम जाबाल परिचारिका का पुत्र है। वह गौतम के समीप ज्ञान प्राप्ति के लिए जाता है। ऋषि द्वारा गोत्र पूछे जाने पर वह अपने गोत्र की अज्ञानता का सत्य कथन करता है। गौतम ने यह कहा कि- अब्राह्मण सत्यवचन को कहने में समर्थ नहीं हो सकता। तुम सत्य से पृथक् नहीं हुए हो अतः हे सौम्य! समिधा लाओ। मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा।[41]

उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में कहा गया है कि यदि वह संदिग्ध पुरुष चोरी का अकर्ता होकर सत्य से अपनी आत्मा को सत्य-युक्त करता है। वह सत्यवादी पुरुष उस सत्य से अपनी आत्मा को आच्छादित कर तप्त परशु को ग्रहण करता है। वह दग्ध नहीं होता है अतः छोड़ दिया जाता है।[42] यह प्रसंग सत्य के आचरण करने वाले के प्रति दिव्य न्याय को तथा सत्यवादी की महिमा को प्रदर्शित करता है।

इसी प्रकार सातवें प्रपाठक में सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि सत्य की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। क्योंकि जब कोई व्यक्ति विशेष रूप से सत्य को जानता है तभी सत्य को कहता है। न जानता हुआ सत्य को नहीं कह सकता।[43] तात्पर्य यही है कि सत्य ब्रह्मस्वरूप है उसका अच्छी प्रकार जीवन में आचरण करने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है।

अस्तेय- अस्तेय का अर्थ है मन, वचन और कर्म तीनों से किसी की वस्तु को ग्रहण न करना। इसमें वचन और कर्म से किसी वस्तु को न लेना समाज-व्यवस्था का अंग है किंतु मन से भी लेने की इच्छा न करना धर्म का अंग है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में चोरी, गुरुपत्नी गमन, जुआ, मद्यपान, असत्यभाषण को पाप तथा इनके साथ आचरणकर्ता को पापी कहा गया है।[44] छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि

---

[40] सत्याज्जायते दयया दानेन च वर्धते क्षमायां तिष्ठति, क्रोधं नश्यति।.....गौरी शंकरभट्ट-भारतीय संस्कृतिएक समाजशास्त्रीय समीक्षा पृ. १०२

[41] नैतद् ब्रह्मणोः विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याऽऽरोपत्वा नेष्य। न सत्यादगा इति। .... छा. उप. ४.४.५

[42] वही ६.१६.२

[43] वही ७.१६.१ से ७.१७.१ तक

[44] ऋग्वेद १०.३.६

सोने की चोरी की इच्छा करने वाला, सुरापान करने वाला, ब्रह्मवेत्ताओं का हनन करने वाला, गुरुतल्पगामी है तथा जो इन चारों के साथ आचरण करता है, वह भी पापी होता है।[45] अन्यत्र कैकेय नरेश अपने राज्य की स्थिति को बताते हुए कहते हैं कि मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कृपण, न मद्यप इत्यादि।[46]

तात्पर्य यही है कि ये सभी आचरण धर्म विरुद्ध हैं। अतः इनका आचरण नहीं करना चाहिए। इसी के साथ छान्दोग्योपनिषद् में अन्यत्र भी अनेकानेक नीतिमान् निर्देशों का उल्लेख है। वस्तुत: नैतिकता धर्म की आधारशिला है। नैतिक मूल्यों का पालन करना मानव मात्र का धर्म है, व्रत है, जिसके द्वारा ही समाज तथा जीवन में धर्म को स्थापित किया जा सकता है।

उपनिषद् कहती है कि ब्रह्मज्ञानियों की निन्दा न करें।[47] साथ ही तपते हुए की[48], वृष्टि की[49] तथा ऋतुओं की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये।[50] लोककल्याण तथा पशुओं के कल्याण की उपेक्षा न करें।[51] मंगल विधायक धर्म का पालन करना चाहिए-

साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः[52]

उदार विचार रखने चाहिए[53], अग्नि की ओर मुख करके न तो आचमन करना चाहिए न थूकना चाहिए।[54] किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए।[55] सब में आत्मभाव रखकर व्यवहार करना चाहिए।[56] इस प्रकार उपनिषद् में

---

[45] छा. उप. ५.१०.९

[46] वही ५.११.५

[47] .... विन्देत्व्रतम्।

[48] तपन्तं न विन्देत्व्रतम्। वही २.१४.२

[49] वर्षन्तं न विन्देत्व्रतम्। वही २.१५.

[50] ऋतून्न विन्देत्व्रतम्। वही २.१७.२

[51] (क) लोकान्न विन्देत्दुव्रतम् । वही २.१७.२

(ख) पशून्न विन्देत्व्रतम्। वही २.१८.२

[52] वही २.१.४

[53] महामनाः स्याद्तव्रतम्। वही २.११.२

[54] न प्रत्यङग्निमाचामेन निष्ठीवेत्तद् व्रतम्। वही २.१२.२

[55] न काञ्चनपरिहरेत् व्रतम्। वही २.१३.२

[56] सर्वमस्मीत्युपाक्षीत्तव्रतम्। वही २.२१.४

धर्म की भावना से अनुप्राणित वचन सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि मानव क्रतुमय प्राणी है। इस लोक में जैसे क्रतु अर्थात् कर्म अथवा संकल्प होंगे मरने के पश्चात् वैसा ही होगा।[57]

वस्तुतः धर्म आन्तरिक जीवन को संस्कृत करता है तथा मनुष्य को सत्पथ पर अग्रसर होने के मार्ग को प्रशस्त करता है। धर्म के द्वारा ही अक्षर ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। यह मूल रूप में प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत उपलब्धि है। मनुस्मृति का कथन सत्य है कि मृत्यु के पश्चात् कोई भी व्यक्ति चाहे वह उसके बन्धु ही क्यों न हों उसका साथ नहीं देते। केवल धर्म ही मनुष्य का अनुसरण करता है।[58]

---

[57] अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत। वही ३.१४.१

[58] मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठक्षमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति। मनु. ४.२४

उपनिषत्सु शिक्षाविमर्शः

डॉ० भावप्रकाश एम. गांधी[1]

वैदिकसाहित्यं विश्वस्य प्राचीनतमं साहित्यं वरीवर्तीति वैश्विकाः विद्वांसः एकमतेनाङ्गीकुर्वन्ति। तत्रापि उपनिषदां स्थानमनिर्वचनीयमिति निष्प्रचं वक्तुं पार्यते। इमा उपनिषदः पराविद्या-रहस्यम्-वेदान्त-ब्रह्मविद्यादिनाम्ना प्राचीनर्षभिः व्यपदिश्यन्ते। भारतीयविचारशास्त्रस्य श्रेष्ठोपजीव्यग्रन्थत्वादुपनिषदः प्रस्थानत्रय्यां प्रथमस्थानत्वेन गृह्यन्ते। उप+नि इत्युपसर्गद्वयाभ्यां षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु धातोः क्विबन्तरूपेण उपनिषद् शव्दः सिद्ध्यति। इत्थं मूलभूतायाः अविद्यायाः नाशकाः , ब्रह्मप्राप्तेः साधकाः, दुःखस्य च शिथिलकर्तारः इमे उपनिषद्ग्रन्थाः इति शांकरमतम्।[2] तत्रापि आधुनिकशिक्षाव्यवस्थासन्दर्भे शिक्षाविषयकी अवधारणां अस्मिन् शोधस्वाध्यायपत्रे प्रस्तोतुमीहे।

अनादिकालादेव मानवजीवने शिक्षायाः स्थानं महत्वं च सर्वजनविदितमेव। शीलं,परोपकारः, विनयः, क्षमा, धैर्य, अलोभश्चेति विद्यायाः उज्ज्वलं फलम्।[3] उपनिषद्काले शिक्षायाः चरमं परमं च लक्ष्यं ब्रह्मज्ञानमित्येवासीत्। तत्र विद्येति नाम्ना शिक्षा अभिधीयते। ‘विद्ययाऽमृतमश्नुते’[4] ‘सा विद्या या विमुक्तये’[5] इत्यादीनि वचांसि इमं लक्ष्यं सुस्पष्टं समर्थयन्ति। तथापि अध्यात्मप्रधाना औपनिषदी शिक्षाव्यवस्था

---

[1] **प्राचार्यः, अध्यक्षः- संस्कृतविभागः, सरकारी विनयन तथा वाणिज्य महाविद्यालयः, गांभोई, हिम्मतनगरम्, गुजरात**

[2] कठ उपनिषद् – शांकरभाष्यस्य प्रस्तावना

[3] शीलं परहितासक्तिरनुत्सेकः क्षमाधृतिः।

अलोभश्चेति विद्यायाः परिपावकोज्ज्वलं फलम्॥ क्षेमेन्द्र दर्पदलनम् - ३.१५.१

[4] ईशोपनिषद् - ११

[5] विष्णुपुराण – १.१९.४१

आधिभौतिक-अभ्युदय-निःश्रेयसादिदिशास्वपि प्रवृत्ता विकसिता च दरीदृश्यते। शिक्षा इत्युक्ते कस्यापि तत्त्वस्य शिक्षितुं शिक्षयितुं च प्रक्रिया। षट्सु वेदांगेषु वर्ण-स्वर-मात्रादिप्रतिपादिका अपि शिक्षापदनामवाच्या।[6] पुराकाले अनुशासनशब्देन शिक्षायाः ग्रहणमकार्षुः महर्षयः। तत्रापि मानसिकं शारीरिकं चेत्यनुशासनं द्विधा विभक्तं द्रष्टुं शक्यते। वस्तुतः मानवनिर्माणमेव शिक्षायाः उद्देश्यम्। विद्यया मानवः प्राधान्येन वैयक्तिकीं चेतनामुद्बुध्य आध्यात्मिकं विकासं प्राप्तुं प्रवर्तते तस्य च परिणतिः निःश्रेयसि सम्पद्यते। मानवस्य मनुष्यत्वं ततः ऋषित्वं ततश्च देवत्वं पुनश्च ब्रह्मत्वप्राप्तिः इत्थं शिक्षायाः विद्यायाः ज्ञानस्य च एतानि क्रमशः सोपानानि अवर्तन्त। तदानीं सकलं जीवनं शिक्षायै सकलं शिक्षणं च जीवनाय आसीत्।

शिक्षासन्दर्भे उपनिषत्सु बहुशो विवेचनं प्राप्यते। तैत्तिरीयोपनिषदः शिक्षावल्ल्यां शिक्षायाः विषये विशदं निरूपितम्। तत्र प्रारम्भे प्रारम्भिकी वर्णः , मात्रा, सामादिविषयः चर्चितः। यथा – **शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।**[7] श्रीमच्छङ्कराचार्योऽपि भाष्ये वर्णोच्चारणप्रक्रियां शिक्षया स्वीचकार।

तैत्तिरीयोपनिषदः शिक्षावल्ल्यां विद्यायाः अनिवार्याणां पञ्चाङ्गानां वर्णनं समुपलभ्यते।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्।[8]

एतदेव प्राचीनशिक्षायाः स्वरूपं अद्यत्वेऽपि प्रचलतितराम्। आचार्यः शिक्षायाः उद्गमस्थलं, शिष्यः लक्ष्यं, उभयोः सङ्गमः सन्धिः विद्या, प्रवचनं विद्यायाः अभिव्यक्तिमाध्यमं च। एतैः चतुर्भिः विद्यातत्वैः विद्योपयुक्ता भवति। शिक्षायाः एतावत् सुस्पष्टं वर्णनं नान्यत्र दृश्यते। उपनिषद्काले प्ररम्भिकशिक्षायाः केन्द्रं गृहमेवासीत्। पिता च तत्र प्रथमो गुरुः। यथा उद्दालक आरुणिः स्वपुत्रं श्वेतकेतुं शिक्षयामास। स च शिक्षां प्राप्य राज्ञः प्रवहणजैबालिपरिषदं जगाम। तत्र च जैबलिः श्वेतकेतुं पञ्चाग्निविद्यासम्बद्धान्

---

[6] शब्दार्थकौस्तुभ – पृ. ११५२

[7] तैत्ति. उप. – १.२.१

[8] तैत्ति. उप. – १.३.४

पञ्चप्रश्नान् पप्रच्छ।[9] स च उत्तराणि दातुं न शशाक।[10] पितरं कथिते पिता उवाच – **स होवाच, यथा नस्त्वं तात जानीथाः यथा यदहं किञ्च वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचम्**।[11] इत्थं पितृगृहे एव पिता पुत्राय सर्वविधं ज्ञानं प्रददाति स्म इति अनेनाख्यानेनावबोध्यते। भृगुरपि पितुः वरुणस्य सकाशं गत्वा ब्रह्मज्ञानं प्राप्तवान् इति भृगुवल्ल्यामुल्लेखो वर्तते - **भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।**[12] इत्थं पितरौ निजगेहे एव सन्ततिषु गुणानां, विनयस्य, संस्काराणां, शुभाचरणस्य ज्ञानस्य च आधानं कुरुतः स्म। जाते जातकर्मसंस्कारे शिशुं घृतं मधु च भोजयन् ब्रुते –

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥[13]

ततश्च गुरोः समीपे अपि उषित्वा विद्याध्ययनस्य परम्परा आसीत्। इयं च परम्परा गुरुकुलपरम्परा नाम्ना प्रख्याता। ब्रह्मचर्याश्रमे गुरुकुले वसन् अन्तेवासी विनयेन गुरोः सान्निध्ये सत्याचरण-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य-इन्द्रियनिग्रह-अहिंसा-अस्तेयादि-नैतिकगुणानां विकासे सदा प्रयत्नरतः भवति स्म। प्राचीनशिक्षाव्यवस्थायाः पुनरानयनं आधुनिकसमये भौतिकयुगे नितरामपेक्षते। मनुष्यस्य सर्वाङ्गीणविकासाय महदुपकारिका गुरुकुलपरम्परा। इमाः उपनिषदोऽपि इमां गुरुकुलपरम्परां डिण्डिमघोषेण समर्थयन्ति। एतेषु गुरुकुलेषु काले काले यज्ञानुष्ठानानि विद्वद्सम्मेलनानि अपि आयोज्यन्ते स्म। बृहदारण्यकोपनिषदि राज्ञः जनकस्य बहुदक्षिणायज्ञस्य तत्र च कुरुपाञ्चालानां विदुषां भागग्रहणस्य उल्लेखो मिलति।[14]

औपनिषदि काले द्वे विद्ये प्रदीयेते स्म – परा अपरा च। ईशोपनिषदि विद्या

---

[9] पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार। बृह. उप. – ६.२.३

[10] तदेव – ६.२.४

[11] तदेव

[12] तैत्ति. उप. भृगुवल्ली - १

[13] अश्वलायन गृह्यसूत्र – १.१५.३

[14] जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञैनेजे तत्र ह कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवु। बृह. उप. ३.१.१

अविद्येति नाम्ना एते विद्ये प्रतिपादिते।[15] पराविद्यया भौतिकविद्यायाः (Scientific knowledge) अपराविद्यया आध्यात्मिकी विद्या (Spiritual knowledge) गृह्यते। यथा मुण्डकोपनिषदि –

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति – परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजिर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा ययाऽक्षरमधिगम्यते॥[16]

छान्दोग्योपनिषद्यपि सनत्कुमारं सम्बोध्य देवर्षिः नारदः आत्मानं बहूनां विद्यानां ज्ञातृत्वेन निरूपितवान्।[17] नारदसनत्कुमारसंवादे **वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, वाचो विग्लापनं हि तत्** इत्यादिवचोभिः शास्त्राण्यधीत्यापि यदि आत्मवित् न मनुष्यश्चेत् तस्य जीवनं निरर्थकम्।[18] निष्कर्षरूपेण आत्मज्ञानं तत्र सर्वप्रमुखं शिक्षायाः फलं निर्दिष्टम्।

विद्यायाः प्रकारेषु उपनिषत्सु बहूनां विद्यानां विवेचनं लभ्यते। यथा- तैत्तिरीयोपनिषदि 'भार्गवी विद्या', वरुणप्रदत्ता विद्या 'वारुणी विद्या', देवसम्बन्धिनी विद्या 'देवविद्या', प्राणिसम्बद्धा 'भूतविद्या', धनुर्विषयिणी 'क्षत्रविद्या', ज्योतिषशास्त्रपरका नक्षत्रविद्या, सर्वदेवजनविद्या, अधिलोकविद्या, आधिज्योतिष् विद्या, अधिप्रजविद्या, ब्रह्मविद्या,अध्यात्मविद्यादिविद्यानां वर्णनम्। शिक्षाव्यवस्थायाः द्वौ सुदृढौ स्कन्धौ आस्ताम् – गुरुः शिष्यश्च। एतौ विना शिक्षायाः कल्पना अपि अशक्या। एतत्सम्बद्धमाख्यानं छान्दोग्योपनिषदि सत्यकाम जाबाल-हारिद्रुमतमाध्यमेन प्रत्यपादयत् उपनिषत्कारः। उपनीतः सत्यकामः हरिद्रुमतनामानम् आचार्यमुपगम्य शिक्षायै प्रार्थितवान्। गुरुः चतुश्शतं गाः सहस्रपरिमितां कर्तुं निर्दिदेश। बहुनि वर्षाणि गोभिः सह

---

[15] विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ईश उप. - ११

[16] मुंडक उप. – १.१.४-५

[17] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतु? थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं, दैवं निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि। छान्दो. उप. ७.१.२

[18] तमेव धीरा विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहुञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं तदिति॥ बृह. उप. ४.४.२१

उषित्वा सहस्रसंख्याकां कृत्वा प्रत्यावर्तनकाले वृषभ-अग्नि-हंस-मद्गु इति मानवेतरप्राणिभि: स: चतुष्कलब्रह्मण: एकैकं पादं ज्ञानं प्राप्तवान्। तथापि गुरुं प्रार्थयते विद्यादानाय यत: आचार्यात् प्राप्ता विद्यैव साधिष्ठा भवति।[19] मुण्डकोपनिषद्यपि **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'**[20] इति वचसा गुरो: माहात्म्यं प्रदर्शितम्। तथैव श्वेताश्वतरोपनिषदि गुरौ श्रद्धावान् जन एव अर्थज्ञो भवतीति निर्दिष्टम्।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥[21]

'आचार्यवान् पुरुषो वेद'[22] इति प्रसिद्धं वाक्यमपि पुरुषस्य पूर्णत्वं आचार्यादेव भवतीति निर्दिशति। आचार्येष्वपि काचित् विशिष्टा अनिर्वचनीया च प्रतिभा च भवति स्मेति उपनिषद्कार उवाच –

क्रियावन्त: श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा: स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्त: ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥[23]

एताद्दशा: शान्तचित्ता: शमदमोपरता: ब्रह्मविद: गुरव: तस्मिन्काले अवर्तन्त, साम्प्रतं शिक्षायां ह्रासे गुरवोऽपि मुख्यहेतुभूतास्सन्ति। ब्रह्मचारिण: शिक्षामधिगन्तुमाचार्यकुलं गच्छन्ति स्म तानि कुलानि नगराद्दूरे प्रकृते: प्राङ्गणे नदीतीरे भवन्ति स्म। समासेन वक्तुं पार्यते यत् – उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ इति वेदवाक्यमनुसरन्ति स्म उपनिषद्कालीनानि गुरुकुलानि। प्राकृतिकवातावरणे शुद्धपर्यावरणे च स्थित्वा गुरो: सकाशे सानुशासनं विद्याभ्यासं कुर्वन्ति स्मान्तेवासिन:। यद्यपि उपनिषत्सु कुत्रापि विद्याप्राप्ते: अवधे: स्पष्टमुल्लेखो न लभ्यते।

छान्दोग्योपनिषद्यपि बहुत्र शिक्षासन्दर्भा: कथानकमाध्यमेन कथिता:। गुरो: सकाशं

---

[19] श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति । छान्दो. उप.- ४.९.३

[20] मुण्डकोपनिषद् – १.२.१२

[21] श्वेता. उप. ६.२३

[22] छान्दो. उप. ६.१४.२

[23] मुण्डकोपनिषद् – १.२.१६

स एव शिष्य: विद्याप्राप्तेरधिकारी भवति य: काम-क्रोध-लोभ-मद-मोहादिभि: दुर्गुणैर्रहितो भूत्वा आत्मजिज्ञासुरस्ति। सांसारिकविषयेष्वलिप्त: अज्ञानादिभि: बन्धनैर्मुक्त: शिष्य: जीवनस्य परमतत्वं ब्रह्म ज्ञात्वा मोक्षमवाप्नोति एतदेवानुशासनम् उपनिषत्सु विस्तरेण शिक्षामाध्यमेन विवेचित:। यथा प्रश्नोपनिषदि - **तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानं अन्विष्यात्**॥[24] इत्थं वेदवचनमनुसरन्ती ब्राह्मणग्रन्थोपबृंहिका औपनिषदी शिक्षा मानवस्य सर्वांगीणविकासं कुर्वन्ती पुरुषार्थचतुष्टयसाधिका बभूव। आदर्शसमाजव्यवस्थायै औपनिषदी शिक्षा निष्प्रपंचं शिक्षणप्रणाल्यां समावेषणीया भवति। तैत्तिरीयोपनिषद: शिक्षावल्ली तु प्रत्येकेन जनेन स्वान्त:करणे निवेश्य अद्यापि व्यवहारे आनीयते चेत् मनुष्यस्य जीवनं सार्थकं भवति परिवारस्य, समाजस्य, राष्ट्रस्य चाभ्युदयाय कल्पते।

अनेनाधारेणोपनिषत्सु कुत्रचित् स्पष्टरूपेण, क्वचिदस्पष्टरूपेण, कुत्रचित् आख्यानमाध्यमेन, क्वचिच्च संवादमाध्यमेन शिक्षाया: विषये बहुविधं विवेचनं दरीदृश्यते। आधुनिकशिक्षायां ये ये दोषा:, त्रुटय: हानयश्च संलक्ष्यन्ते तेषां समेषां समाधानं उपनिषत्सु विद्यते इत्यत्र नास्ति संशीतिलेश:।

[24] प्रश्न. १.१०

ईशोपनिषद् एवं गीताः कर्मतत्त्व के विशेष सन्दर्भ में

डा० सुशील कुमारी[1]

भारतीयों का भाग्यवाद भी अपने मूल रूप में कर्मवाद पर आधारित है। भाग्य व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में अर्जित कर्मों का ही फल होता है। व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल ही नहीं भोगता, वह अपने नये कर्मों के द्वारा अपने भविष्य या भाग्य का निर्माण करता है। अतः कर्मवाद आधारित भाग्यवाद निठल्लावाद नहीं है। शंकराचार्य का मत है कि पुनर्जन्म का आधार भी कर्म ही है- **फलस्य वा पूर्वावस्था पूर्व नामास्तीति तर्क्यते**।[2]

कर्मफल प्राप्ति के दो मत हैं ईश्वरवादी मतानुसार कर्म का फल ईश्वर प्रदान करता है एवं निरीश्वरवादी के अनुसार प्रत्येक कर्म से एक शक्ति (अपूर्व) उत्पन्न होती है जो किसी भी तरह समाप्त नहीं होती और इस कर्मजन्य शक्ति के कारण प्रत्येक कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को कर्म की शक्ति को समझना चाहिए। भगवद्गीता में इसे प्रकरणान्तर से कहा गया है-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥[3]

भारतीय चिंतक अतीतकाल से ही कर्मवाद का पोषक रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण अपने '**चरैवेति**' गीत में उद्घोष करता है-

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥[4]

---

[1] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी महाविद्यालय, चाणक्यपुरी, दिल्ली-११००२१**

[2] शांकरभाष्य, ३.२.४०

[3] गीता, ६.५

[4] ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३.३

बैठे हुए का भाग्य बैठ जाता है, उठकर खड़े होने वाले का ऊँचा खड़ा होता है, सोने वाले का सोया रहता है, चलने वाले का भाग्य चलता है- चलते रहो।

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरेवैति॥[5]

चलता हुआ निश्चय ही मधु प्राप्त करता है, चलता हुआ स्वादिष्ट उदुम्बर (अंजीर) को पाता है। सूर्य की शोभा को देखो चलता हुआ आलस्य नहीं करता, चलते रहो।

कर्म में विश्वास रखने वाले अथर्ववेद के मनीषी को अपने कर्म पर इतना विश्वास था कि वह कहता था- **कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।**[6]

मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में सफलता रखी है।

यद्यपि उपनिषदों का मूल उद्घाटन ब्रह्म ही है एवं ब्रह्म-प्राप्ति मानवमात्र का उद्देश्य है तथापि कर्मवाद का प्राञ्जल रूप उपनिषदों ने हमेशा स्वीकार किया है।

ईशोपनिषद् का पहला ही मन्त्र त्यागभाव प्रदर्शित कर दुःखी, चिन्तित एवं व्यग्रताओं से ग्रस्त मनुष्य को शान्ति एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है-

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[7]

मानवमात्र के लिए ईश्वरीय-ज्ञान वेद का उपदेश है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अथवा सृष्टि में जो कुछ भी जड़-चेतनात्मक संसार हम सभी को देखने अथवा सुनने में आ रहा है वह सम्पूर्ण सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा से व्याप्त है। परमात्मा ने संसार में चेतन प्राणियों को तथा जड़ वस्तुओं और पदार्थों आदि को उत्पन्न किया और तदनन्तर उन सभी में स्वयं भी व्याप्त हो गया। पुरुषसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र भाग से इसकी पुष्टि भी हो जाती है- **ततो विष्वङ् व्यक्रामत साशनानशने अभि॥**[8]

अर्थात् (ततः) इस जड़ और चेतनात्मक जगत् के उत्पन्न होने के उपरान्त (वह)

---

[5] वही, ३३.३.५

[6] अथर्ववेद, ७.५२.८

[7] ईशोपनिषद्, ४०.१

[8] ऋग्वेद, १०.९०.४

(साशन-अनशने) भोजन करने वाले (अर्थात् चेतन-जगत्) और भोजन न करने वाले (अर्थात् जड़ जगत्) ब्रह्माण्ड में (विष्वङ्) सभी ओर (अभिव्यक्रामत) व्याप्त हो गया। इसी भाँति तैत्तिरीय उपनिषद् में भी आता है- **इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।**[9] ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की रचना करके (तत् एव अनु प्राविशत्) उसमें स्वयं भी प्रविष्ट हो गया।

अतः परमात्मा की स्थिति को निरन्तर अपने साथ समझते हुये, इस संसार में अनासक्त भाव से सांसारिक विषयों, द्रव्यों एवं पदार्थों आदि का उपभोग करना चाहिए। भोग्य वस्तुएँ एवं पदार्थ किसी के नहीं हैं। आत्मा जब इस शरीर को छोड़कर चल देता है तब सांसारिक वस्तुयें उसके साथ नहीं जाया करतीं। अतः सभी सांसारिक वस्तुओं तथा पदार्थों को उस ईश्वर का ही समझना चाहिए।

सत्य भी यही है कि सभी पदार्थों आदि के प्रयोग करने का ही मनुष्य को अधिकार है। उन वस्तुओं, पदार्थों आदि पर उसका स्वत्व नहीं। नगर के उद्यान में भ्रमणार्थ आया व्यक्ति भ्रमण के उपरान्त सभी वस्तुओं को यथावत् छोड़ पुनः वापस हो जाता है इसी भाँति सांसारिक सभी वस्तुओं के प्रति भी मनुष्य को ममत्वहीन ही होना चाहिए। ममत्वहीन व्यक्ति सभी वस्तुओं का उपयोग करते हुए होने पर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ करता है। अतः वस्तुओं एवं पदार्थों के छूट जाने अथवा नष्ट हो जाने पर उसे किसी प्रकार की कष्टानुभूति नहीं होती है। वह पूर्ण शान्ति के साथ इस लोक से गमन किया करता है।

इस प्रकार व्यक्ति सांसारिक ऐषणाओं (पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा) से अपनों को अलग कर लिया करता है। सांसारिक वस्तुओं के साथ ममत्व रखने के स्थान पर यदि मानव परमात्मा के साथ अपना ममत्व स्थापित करे तो वह कल्याणप्रद होगा। परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक परमाणु तक में व्याप्त है। इस प्रकार ज्ञान वाला व्यक्ति पापाचरण करने से भयभीत रहा करता है। क्योंकि सर्वव्यापी से कुछ शेष नहीं अतः वह गलत कार्य या पापाचरण में भी प्रवृत्त नहीं होगा एवं उसका जीवन स्वयं ही पवित्र, सुखमय एवं प्रतिष्ठित होगा।

---

[9] तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक-६

निश्चित ही यह अकर्म की व्यापक आधारशिला है जो व्यक्ति सर्वव्यापकता के विश्वासी होते हैं वे पापरहित होते हैं तथा प्राणिमात्र के प्रति स्नेह रखते हैं। उनके सभी कार्य निर्विघ्न समाप्त होते हैं एवं पूर्ण शान्ति उनका अनुगमन करती है।

अपने को कर्मनिष्ठ एवं विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ जीवन-यापन करने के लिए परमात्मा की सर्वव्यापकता स्वीकारना अनिवार्य है।

'**ईशावास्यमिदं सर्वम् ....** में वर्णित तीन भावनाओं (१) ईश की व्यापकता (२) त्याग-भाव (३) अनतिक्रमण के साथ मनुष्य का संसार में कर्म करते रहना चाहिए। पुनः प्रश्न है कि कर्म किस प्रकार का हो? प्रस्तुत मन्त्र हमें फल-आशा का त्याग करते हुए या फल की भावना का त्याग करते हुए कर्त्तव्य-बुद्धि के साथ कर्म करने का मार्ग देता है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[10]

मनुष्य के लिए सर्वोत्कृष्ट हितकर है कि वह संसार में शुभ कर्मों को करता हुआ सौ वर्षों तक जीवित रहे। किन्तु कर्मों को निष्कामभाव से किया जाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में ये कर्म उसको बन्धन में डालने में समर्थ नहीं हुआ करते। यही एक मात्र साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को कर्म-बन्धन से मुक्त रख सकता है अर्थात् सांसारिक दुःखों से निवृत हो कर्म-बन्धन से परे जीवन के लक्ष्यीभूत चतुर्थ-पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त कर्म बन्धन से मुक्ति का कोई दूसरा साधन नहीं है।

गीता इन्हीं मंत्रों को ग्रहण करती है एवं कर्म का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करती है। गीता कहती है कर्म के बिना जीवन निर्वाह असम्भव है-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[11]

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं

---
[10] ईशोपनिषद्, ४०.२

[11] गीता, ३.५

रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजन्य गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है। गुणत्रय से व्यक्ति स्वतंत्र नहीं। गीता में कर्म का विभाजन दो तरह से किया गया है। पहला कर्म, अकर्म तथा विकर्म-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥[12]

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन है। दूसरा कर्म विभाजन सात्विक, राजस और तामस है -

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥[13]

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान तथा कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन।

पहले विभाजन के अनुसार कर्म का सम्बन्ध प्रमुख रूप से व्यक्ति की मानसिकता से है। इसलिए बाह्य संयम, जो मन में नहीं उतरता है, कर्म को समाप्त नहीं कर सकता। बल्कि संयम की ओट में मानस में इच्छाओं तथा वासनाओं से उलझा व्यक्ति वास्तव में कर्म ही करता रहता है और जब तक इस तरह के कर्म का त्याग न हो, वह कर्म-त्यागी वास्तविक अर्थ में नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जो व्यक्ति शरीर से कर्म करता है पर किसी भी तरह की मानसिक आसक्ति से जुड़ा नहीं है वह अकर्म कर रहा है, अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता। कर्म के पीछे उपस्थित वासनाएँ तथा आसक्ति ही व्यक्ति को बाँधती हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नाकर्मकृत्॥[14]

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में

---

[12] वही, ४.१७

[13] वही, १८.१९

[14] वही, ४.१८

बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है। चूँकि व्यक्ति बन्धनकारी वासना से मुक्त है इसलिए वह कर्म ही नहीं है अकर्म है। इसी तरह कर्म का अर्थ ही बन्धनकारी क्रिया। विकर्म वे हैं जो गर्हित कर्म हैं जैसे हिंसा, झूठ, जालसाजी आदि। इस तरह कर्म का अर्थ हुआ वे क्रियाएँ जो व्यक्ति को बाँधती हैं, अकर्म का अर्थ हुआ मन का निरासक्त भाव जो कर्म करते हुए व्यक्ति में विद्यमान रहता है और विकर्म का अर्थ है वे कार्य जो शास्त्र द्वारा निषिद्ध हैं।

गीता के द्वितीय विभाजन के अनुसार कर्म सात्विक, राजस एवं तामस इन तीनों में से किसी एक वर्ग में रखे जाते हैं जो कर्म शास्त्रविधि से नियत और कर्तापन के अभिमान से रिक्त है, बिना फल की इच्छा से किया जाता है वह सात्विक कर्म है। जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाली इच्छा और अहंकार से किया जाता है वह कर्म राजस हैं। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किए बिना अज्ञानवशात् होते हैं वे तामस कर्म है-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥[15]

जो कर्म शास्त्राविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहते वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो- वह सात्विक कहा जाता है-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥[16]

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया-

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥[17]

---

[15] वही, १८.२३

[16] वही, १८.२४

[17] वही, १८.२५

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है॥

गीता के अनुसार प्रत्येक कर्म के ५ घटक हैं - अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा तथा दैव।

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥[18]

वह दैव नामक घटक व्यक्ति के हाथ में नहीं होता। पर यही तत्त्व व्यक्ति के कर्म को सफलता या विफलता प्रदान करता है। व्यक्ति जब समझता है कि सफलता विफलता का जिम्मेदार वह स्वयं है तो गलती करता है। इससे उसे अभिमान या निराशा भी आ सकती है। इसलिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि बिना फल की चिन्ता किये कार्य किए जाएँ। इस प्रकार किये गये कार्य में अभिमान या निराशा दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है। केवल इसी प्रकार कर्म कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं उनके लिए गीता में विश्वास की यह वाणी है कि ईश्वर के भक्त को कोई हानि नहीं हो सकती। भक्त के योग-क्षेम की जिम्मेदारी ईश्वर अपने ऊपर ले लेता है-

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥[19]

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। यह कर्म के सिद्धान्त की विरोधी बात नहीं है क्योंकि ईश्वर पर विश्वास रखना भी तो एक कर्म ही है। इसलिए एक पराजित न होने वाली कर्मशीलता की प्रेरणा गीता में परिव्याप्त है।

---

[18] वही, ८.१४

[19] वही, ९.३१

संशयतदुच्छेदवाद में प्रतिपादित आभु एवं अभ्व का स्वरूप

डा० विनोद कुमार[1]

ऋषि मुनियों की परंपरा वाले भारतवर्ष में वेदों की प्राचीनता के साथ इनकी दुरुहता को सरल एवं सुगम बनाने वाले ऋषि मुनिकल्प विद्वानों का समय समय पर प्रादुर्भाव इस धरा का वैशिष्ट्य रहा है। यहां जब जब अधर्म अन्याय अज्ञानता की अभिवृद्धि एवं वैदिक ज्ञान की विस्मृति होती है तब यहां कोई न कोई महापुरुष अवतरित होकर समाज में ज्ञान का प्रकाश फैलाने का दायित्व ग्रहण कर लेता है। पंडित मधुसूदन ओझा उन्हीं में से एक है। इन्होंने वर्तमान समय में वेदों की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या कर भारतीय समाज को नव जीवन प्रदान करने का कार्य किया है। क्योंकि जब लोग वैदिक मंत्रों के अर्थों को वैज्ञानिक दृष्टि से न समझकर केवल भाषापरक अर्थ करने लगते हैं तो मंत्रों के रहस्य तो अनावृत हुए बिना अधूरे रह ही जाते हैं प्रत्युत समाज में कुरीतियां पाखंड और अंधविश्वास के बढ़ जाने से उन्नति का मार्ग भी अवरूद्ध हो जाता है। अतः पंडित मधुसूदन ओझा ने सहस्र वर्षों से विलुप्त प्राय वैदिक विज्ञान दृष्टि को पुनः जीवित ही नहीं किया अपितु इसके तात्विक एवं विज्ञान पक्ष को उजागर करते हुए लगभग २२८ ग्रंथों का संस्कृत भाषा में विशाल साहित्य सृजन भी किया। इन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में पूर्व में प्रचलित समस्त मान्यताओं का १० वादों में समावेश करते हुए 'उक्थवैराजिकम्' नामक महाग्रंथ में विवेचन किया और १० वादों में प्रत्येक पर पृथक् रूपेण स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे हैं। 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक ग्रंथ इसी श्रृंखला में संशयवाद को व्याख्यायित करने वाला एक प्रौढ़ ग्रंथ है।

सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्य को कुछ विकट प्रश्न उद्वेलित करते रहे हैं। जैसे सृष्टि का मूल क्या है? सृष्टि किससे बनी? कैसे बनी? सृष्टि का स्वरूप क्या है इत्यादि। इन

[1] **सहायकाचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, काँधला**

प्रश्नों के समाधान के लिए हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने सत्य के साक्षात्कार विषयक अपने भिन्न भिन्न अनुभव विभिन्न तरीकों से व्यक्त किए। उनके ये अनुभव व्यक्तिगत व स्वत:स्फूर्त थे। अतः उनके आधार पर सृष्टि विषयक किसी सर्वमान्य सिद्धांत का स्वरूप उभरकर सामने नहीं आ सका। पंडित मधुसूदन ओझा ने उन सभी प्रचलित धारणाओं को दशवाद संज्ञा के अंतर्गत समेटते हुए एक सुदृढ़ दार्शनिक आधारभित्ति प्रदान की है। ये १० वाद निम्नलिखित हैं--१. विज्ञानेतिवृत्तवाद २. सदसद्वाद ३. रजोवाद ४. व्योमवाद ५. अपरवाद ६. आवरणवाद ७. अम्भोवाद ८. अमृतमृत्युवाद ९. अहोरात्र वाद १०. दैववाद।

इस प्रकार सृष्टिमूल के संबंध में जब लोगों के सामने प्राचीनों ने कोई एक निश्चित सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया तो अनेक विरोधी मतों या वादों की उपस्थिति के कारण मानव मन मस्तिष्क में संशय प्रवेश कर गया और इस प्रकार उपर्युक्त १० वादों के परिणाम स्वरुप आगे चलकर ११वें 'संशयवाद' का जन्म हुआ। कालांतर में इस संशयवाद के निराकरण हेतु जिस एकेश्वरमूलक ब्रह्मवाद की स्थापना हुई उसी १२वे मत को विद्वत् समाज में 'सिद्धांतवाद' के रूप में जाना जाता है। पंडित ओझा जी द्वारा विरचित संशयतदुच्छेदवाद नामक ग्रंथ पूर्वोक्त सभी मतों को प्रकट करते हुए संशयों का निवारण या उच्छेद करने वाला तथा सिद्धांतवाद की स्थापना करने वाला ग्रंथ है, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो रहा है। वास्तव में देखा जाए तो पंडित मधुसूदन ओझा द्वारा १० मतों के संशयों का निराकरण करते हुए जिस सिद्धांतवाद की स्थापना की गई है उसके अनुसार इस सृष्टि के मूल कारण दो तत्व है, और वे हैं आभु एवं अभ्व। इस संदर्भ में पंडित मोतीलाल शास्त्री का स्पष्ट कथन द्रष्टव्य है- उसी ब्रह्म तत्व की स्थापना का रहस्य श्री गुरुप्रणीत सुविस्तृत 'सिद्धांतवाद' में वर्णित है। उसका अंतिम सिद्धांत है कि जगत् के दशवाद प्रपंच के आभु और अभ्व ये दो ही मूल हैं[2]।

पं ओझा जी का कथन है कि संसार परिवर्तनशील है। संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। यद्यपि हम पदार्थो के परिवर्तन का क्षण निश्चित नहीं बता सकते किन्तु परिवर्तन में क्षणों की भूमिका को भी नहीं नकार सकते। इस प्रकार यदि व्यक्ति की तरफ दृष्टि डालते हैं तो परिवर्तन का प्रत्यक्ष होता है और यदि समष्टि पर दृष्टि डालते हैं तो अपरिवर्तन का अनुभव होता है। संसार के पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं,

---

[2]संशयतदुच्छेदवाद, विज्ञानभाष्य, पृ.८

परन्तु संसार वही है। लाखों वर्ष पहले भी संसार था अब भी वैसे ही विद्यमान है, बाद में भी ऐसा ही रहेगा। तात्पर्य यह है कि संसार मे जो कुछ 'है' कहकर व्यवहृत होता है उस सम्पूर्ण जगत् प्रपंच को हम सर्वथा विपरीत दो विरुद्ध भावों में परिणत देखते हैं। एक भाव तो ऐसा है जो सर्वथा अविचाली है, शाश्वत है, अनाद्यनन्त है तथा दूसरा बिल्कुल इसके विपरीत प्रतिक्षण अन्य अन्य विकारों या अवस्थाओं में परिणत होने वाला है। इस प्रकार जो कुछ 'है' कहने योग्य है, वह 'है' प्रपंच या अस्तिभाव सदा पूर्वोक्त दो विरुद्ध भावों से आक्रान्त रहता है। बस इन दो विरुद्ध भावों के सन्निवेश के कारण यह सम्भावना अपरिहार्य हो जाती है कि विश्व अवश्य ही द्विमूल है। और विश्व के ये दो मूल ही आभु और अभ्व इन दो शब्दों से व्यवहृत होते हैं।

वैदिक विज्ञान में नित्य भाव का मूल 'आभु' कहा जाता है तथा अनित्यभाव के कारण को अभ्व नाम दिया गया है। यह आभु ही अमृत, ब्रह्म, सत्य इत्यादि नामों से व्यवहृत होता है। यह नित्यतत्व का मूल चूँकि आद्यन्तरहित है और सर्वव्यापक वही हो सकता है जो आद्यन्तरहित हो अतः वह सर्वव्यापक है। इसलिए 'आ समन्तात् भवति' इस व्युत्पत्ति से उसे आभु कहा जाता है। चूँकि यह तत्व अमरणधर्मा है, इसका कभी विनाश नहीं होता अतः इसे अमृत कहा जाता है। यही तत्व उपबृंहित होकर संसारस्वरूप में परिणत हो रहा है अत एव इसे ब्रह्म कहते हैं। और चूंकि यह तत्व भूत, भविष्यद्, वर्तमान तीनों काल से अबाधित है अतः इसे सत्य कहा जाता है।

दूसरा मूलतत्व अभ्व है। यही अभ्व मृत्यु, कर्म, बल इत्यादि नामों से भी विख्यात है। चूंकि क्रिया निरन्तर क्षीण होती रहती है किन्तु नष्ट या क्षीण होने की निरन्तरता दिखाई नहीं देती अन्यथा संसार में घट पट इत्यादि जो स्वरूप दिखलाई पडते हैं वे सब क्रिया की सिद्धरूपा समष्टि ही तो है।इस प्रकार यह क्रिया वास्तव में कोई चीज न होकर दिखलाई दे रही है। अत एव इसके मूल को '**अभूत्वा भाति**'–'**न भवन् भाति**' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अभ्व कहा जाता है। चूंकि यह मूल मरणधर्मा है– अनित्य है, इसलिए इसे मृत्यु कहा जाता है। जैसे आभु को रस कहा जाता है वैसे इसे बल कहा जाता है। अनित्य एवं प्रतिक्षण परिवर्तनीय या क्रियायुक्त होने के कारण यह कर्म्म पद वाच्य है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो जो द्रष्टा है वह आभु है तथा जो दृश्य है वही अभ्व है-

विरुद्धभावाद्वयसंनिवेशात् संभाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम्।
आभ्वभ्वसंज्ञे स्त इमे च मूले द्रष्टाभु दृश्यं तु मतं तदभ्वम्॥[3]

[3]वही (मूल),काण्ड १, श्लोक२

देखने वाला नित्य है, दिखाई देने वाला अनित्य है। देखने वाला एक है, दिखाई देने वाले अनेक हैं। देखने वाला अपरिच्छिन्न है अर्थात् असीम है और दिखाई देने वाला परिच्छिन्न अर्थात् ससीम है। यहाँ द्रष्टा और ज्ञान पर्याय हैं। जबकि दृश्य कर्म्म कहाता है। ज्ञान वास्तव में आभु है। क्योंकि ज्ञान एक प्रकार का प्रकाश है जो कि अविचालिभाव है, नित्य है, एकस्वरूप है। प्रकाश या ज्योति संसार में कुल दो प्रकार की ही मानी गयी हैं – १. भूतज्योति २. ज्ञानज्योति। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाग् ये चार भूतज्योति तथा ज्ञानज्योति जिसे आत्मज्योति भी कहते हैं, इन पाँचों ज्योतियों या प्रकाश से ही मनुष्य का शरीर रहता है 'पंचज्योतिरयं पुरुषः'[4]। निस्सन्देह इनमें ज्ञानज्योति सर्वोत्तम है। इसके प्रकाश के बिना सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युतादि भी प्रकाशित नहीं होते हैं-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति॥[5]

आशय यह है कि ज्ञान प्रकाश स्वरूप है। दर्पण की भाँति इसके पटल पर हाथी, घोडा, मकान, पर्वत आदि अनेक प्रतिबिम्ब आते रहते हैं। किन्तु जिस प्रकार काँच सर्वथा अविचाली है, प्रतिबिम्बित पदार्थ विचाली है– बदलते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ज्ञान अविचाली, स्थिर व एक है। इसीलिए यह आभु है। ज्ञान में आने वाले जो विषय हैं वे अनन्त है, ससीम हैं वे सब अभ्व के अन्तर्गत आते हैं।

आभु के तीन स्वरूप हैं –आनन्द, चेतना, सत्ता[6] और अभ्व के भी तीन स्वरूप हैं– नाम, रूप, कर्म्म[7]। जिस प्रकार दीपक पिण्ड स्वयं ग्रहीता होकर दीपक पिण्ड से निकली प्रकाशकिरणें ग्राहक होती हैं तथा उस प्रकाश में प्रतिभासित होने वाले घट–पटादि पदार्थ ग्राह्य बनते हैं। ठीक इसी प्रकार एक आभु (ज्ञानघन)अवस्था विशेष के कारण आनन्द, चेतना एवं सत्ता इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार बडे ही वैज्ञानिक तरीके से इन्होंने दिखाई देने वाले पदार्थ (बोझ) को पृथ्वी का आकर्षणबल-मात्र मानते हुए प्रकाश या ज्ञान की तीन अवस्थाओं से भिन्न कोई वस्तु नहीं माना है। और पदार्थ या वस्तु के केन्द्र को इन्होंने ज्ञानघन प्रविष्टिब्रह्म या केन्द्रप्रजापति नाम दिया है जिसकी पकड में सारा विश्व स्थिर है। यहाँ श्रुति भी प्रमाण है-

---

[4]बृहदारण्यकोपनिषद्

[5]मुण्डकोपनिषद् २.२.१०

[6]संशयतदुच्छेदवाद (मूल) काण्ड१, सूत्र१

[7]वही,काण्ड१,सूत्र २

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विराजते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्नह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥[8]

इस प्रकार इनके मतानुसार सूर्यबिम्बवत् यह केन्द्र प्रजापति ही आनन्द है। तदनन्तर उस केन्द्रीय ज्ञानघन से चारों ओर सूर्यरश्मिवत् निकलने वाली जो ज्ञानकिरणें हैं उनकी समष्टि ही चेतना कहलाती है और वही ज्ञान मन, प्राण, वाक् की समष्टि में जब परिणत हो जाता है तो सत्ता कहलाने लगता है। चूंकि सत्ता के अस्तिभाव का कभी नाश नहीं होता अतः यह सर्वथा नित्यतत्व है, प्रतिक्षण विनश्यदवस्थायुक्त है अतः इन्हें अभ्व का स्वरूप माना गया है।

उल्लेखनीय है कि यहां पं मधुसूदन ओझा ने वेदान्ती विद्वान् जो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'नेह नानास्ति किञ्चन' '**यत् किञ्चिदृश्यते तत्सर्वं मायिकम्**' इत्यादि वचनों द्वारा अभ्व की सत्ता न स्वीकार कर केवल ब्रह्म अर्थात् आभु की ही सत्ता स्वीकार करते हैं उसका खण्डन किया है[9]। क्योंकि इनके मतानुसार अव्यय की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पाँच कलाएं हैं। इनमें से आनन्द, विज्ञान, मन मुक्तिसाक्षी हैं तथा मन, प्राण, वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। या यूं कहिए कि आनन्द, विज्ञान, मन आभु हैं और मन, प्राण, वाक् अभ्व हैं। इस प्रकार अभ्व तो अव्यय प्रजापति का शरीर ही है। उस अव्यय प्रजापति का आधा शरीर अमृत है, आधा मर्त्य है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है – **अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**[10]।

सम्प्रति यहाँ चिंतनीय है कि जो प्रजापति का स्वरूप है उसे मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः अभ्व और आभु दोनों की समष्टि का नाम ब्रह्म है। **'किंच वाचारम्भणम् विकारोनामधेयंमृत्तिकेत्येव सत्यम्'**[11] इस श्रुति का तातपर्य केवल भिन्न सत्तावाद को हटाने में है ना कि जगत् को मिथ्या बतलाने में। श्रुति स्पष्ट कहती है कि वही आत्मा जगत् बना हुआ है एवं प्रतिसंचरक्रम में वही ब्रह्म बन जाता है। सृष्टि की प्रागवस्था का नाम सत्य है एवं सृष्ट्यवस्था का नाम विश्व है।

---

[8]यजुर्वेद,अध्याय ३१,मन्त्र

[9]संशयतदुच्छेदवाद (मूल) काण्ड१,श्लोक ७

[10]शतपथ ब्राह्मण १०.१.३.२

[11]छान्दोग्योपनिषद्, ६.४

ध्यातव्य है कि वेदान्तियों के मत का खंडन कर अंत में पंडित ओझा स्वयं आभु एवं अभ्व का एकत्व प्रतिपादित करते हैं" **अथ अभ्वत्रयाभुत्रयाभ्यामैकभाव्यम्**"[12]। वस्तुतः आभु, आंनद, चेतना, विज्ञान का नाम है और नाम रूप-कर्म का नाम अभ्व है। इस प्रकार ये छः है परंतु वास्तव में देखा जाए तो ये छओं एक वस्तु है। कहने को छः है वास्तव में एक ही ब्रह्म है। जिस प्रकार अंगरखी, कुर्ता, पगड़ी, दुपट्टा, धोती कहने को अनेक वस्त्र है परंतु वास्तव में सूत ही तो है। इसी प्रकार ये छः तत्व द्रष्टा (आंनद, चेतना, सत्ता-आभु) और दृश्य (रूप-नाम-कर्म=अभ्व) में अंतर्भूत है। दृश्य असत् है द्रष्टा सत् है और जब आगे बढ़ते है तो सदसत् दोनों सत् ही हो जाते हैं अर्थात्द्रष्टा और दृश्य का भेदव्यवहार भी टूट जाता है। जैसे घड़ा दृश्य है इसको ज्ञान से भिन्न वस्तु समझ रखा है वास्तव में वह ज्ञानघन ही तो है। 'घटोअस्ति' यही ज्ञान का स्वरूप है, 'घटो ज्ञायते' यही सत्ता का स्वरूप है, शेष बचा आंनद तो बस जो है एवं जिसका भान होता है वही आंनद है जो एकमात्र वस्तु है। आंनद ही आत्मा है एवं आंनद ही जगत् है। श्रुति भी कहती है- **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति इति**[13]।

निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि पंडित मधुसूदन ओझा आभु एवं अभ्व के समष्टिरूप को ब्रह्म मानते है न कि केवल आभु को। लेकिन विज्ञान हमेशा ज्ञानसापेक्ष होता है अर्थात् स्थापित विज्ञान हमेशा ज्ञानरूप में तथा ज्ञान हमेशा विज्ञान रूप में परिणत होता रहता है अतः किसी भी विषय में ‘इदमित्थम्’ यही अंतिम सत्य है' ऐसा कहना सम्भव नही। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रत्येक विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन मनन करने वाले पंडित मधुसूदन ओझा का मानना है कि सब मत झूठे हैं एवं सब सच्चे है या फिर सब मत सच्चे हैं किंतु ब्रह्म को ना मानना गलत है। यदि सबका आधार एक ब्रह्म मान लिया जाता है तो सारे मत सच्चे एवं ब्रह्म नही माना जाता है तो सारे मत मिथ्या हैं[14]।

---

[12]संशयतदुच्छेदवाद (मूल) प्रथम काण्ड

[13]कठोपनिषद् २.६.१२

[14]संशयतदुच्छेदवाद,विज्ञानभाष्य, पृ.७-८

उपनिषदों में कर्मफल एवं पुनर्जन्म की अवधारणा

डॉ० रीना कुमारी[1]

सम्पूर्ण जगत् में कर्मफल एवं पुनर्जन्म विषयक चिंतन एक महत्वपूर्ण बिंदु है। उपनिषदों में वर्णित पुनर्जन्म सिद्धांत को समझने के लिए उपनिषदीय वाङ्मय के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है, तभी हम इस सिद्धांत को समझ पाएंगे। पुनर्जन्म की कल्पना भारतीय विचार जगत् में बहुत प्राचीन है। वेदों एवं ब्राह्मणों में बीजरूप में इसकी चर्चा है और उपनिषदों में इसे स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि मरणोपरांत मानव शरीर के भाग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं- जैसे मनुष्य के नेत्र सूर्य में, श्वास वायु में, वाणी अग्नि में, मन चंद्रमा में, कान दिशाओं में, शरीर मिट्टी में, आत्मा आकाश में, बाल पेड़ पौधों में, रक्त और वीर्य जल में विलीन हो जाते हैं। वस्तुतः मनुष्य अच्छे कर्मों से अच्छा तथा बुरे कर्मों से बुरा बनता है।[3] अतः हमारा जीवन हमारे चरित्र का मूर्त रूप होता है।

उपनिषदों में इस बात की विस्तृत व्याख्या की गई है कि मनुष्य किस प्रकार मरता है और पुनः जन्म लेता है।[4] पुनर्जन्म के विषय में कई उदाहरण दिए गए हैं जिस प्रकार जोंक जब घास की लंबी पत्ती के अन्तिम सिरे पर पहुंच जाती है तो वह सहारे के लिए कोई और स्थान खोज लेती है और फिर अपने को उसकी ओर खींचती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा इस शरीर के अंत पर पहुंचकर सहारे के लिए कोई अन्य स्थान खोज लेता है तथा अपने को उसकी ओर खींचता है।

एक अन्य उदाहरण में कहा गया है कि जिस प्रकार सुनार सोने के एक टुकड़े को लेकर उसे कोई अन्य नवीन, सुन्दर आकृति दे देता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा इस शरीर को त्याग कर तथा अज्ञान को दूर कर कोई और नवीन व अधिक सुन्दर रूप

[1] **संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय**

[2] द्रष्टव्य ऋग्वेद १०/१६/३ तथा शतपथ ब्राह्मण, १/५/३/४, १०/३/३/८

[3] बृहदारण्यकोपनिषद् ३/२/१३

[4] द्रष्टव्य, बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/३७-३८, ४/४/१-५,६,७ कठोपनिषद् १/१/५-६

धारण कर लेता है।[5] ये अंश पुनर्जन्म के सिद्धांत के कई पहलुओं को उजागर करते हैं। आत्मा वर्तमान शरीर को त्यागने से पहले अपने भावी शरीर को खोज लेती है। आत्मा इस अर्थ में सृजनशील है कि वह शरीर का सृजन करती है। शरीर को जब भी वह बदलती है तो एक नवीन रूप धारण करती है। आत्मा के प्रत्येक जीवन की स्थिति उसके उससे पहले के जीवन के ज्ञान और कर्म द्वारा प्रतिबद्ध और निर्धारित होती है।[6]

मनुष्य जीवन में कर्म का विशेष महत्व है क्योंकि कर्म के आधार पर ही पुनर्जन्म आधारित है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अच्छे कर्मों से मनुष्य को उच्च योनि की प्राप्ति होती है।[7] इस प्रकार कर्म ही जन्म का कारण है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि समस्त संसार कर्म सूत्रों में बंधा है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

प्रस्तुत (उक्त) श्लोक में पुनर्जन्म के सिद्धांत की पुष्टि की गई है। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् आत्मा नवीन शरीर में प्रवेश करता है।

कठोपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि जो इस संसार में भेद देखता है, वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त नहीं हो पाता, परंतु अद्वैत-विद्या से बुद्धि के संस्कृत होने पर द्वैत दृष्टिकोण का विनाश हो सकता है।[8] बृहदारण्यकोपनिषद् इस बात की पुष्टि करता है कि व्यक्ति अपने कर्मों से ही अपने उज्जवल भावी जीवन का निर्माण करता है। मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के अनुसार ही अपना कर्म निर्धारित करता है। स्वेच्छानुसार ही व्यक्ति अच्छे-बुरे कर्म करता है तथा कर्म के अनुसार ही उसको फल की प्राप्ति होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा भी गया है-

यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति। पापकारी पापी भवति॥ पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापम् पापेन। अथो खल्वाहुः। काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरुते, तदभिसम्पद्यते॥[9]

---

[5] बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/३-५ तथा भगवद्गीता २/१३,२२

[6] बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२

[7] राधाकृष्णन्, उपनिषदों की भूमिका, पृ. १२१

[8] कठोपनिषद् २/१/११

[9] बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/५-७

उक्त उदाहरण उपनिषदों में निहित पुनर्जन्म सिद्धांत को पुष्ट करता है तथा उपर्युक्त अंश पुनर्जन्म सिद्धांत का सर्वप्राचीन एवं स्पष्ट प्रमाण है।[10]

कर्म तथा व्यवहार व्यक्ति की इच्छा और संकल्प पर निर्भर रहते हैं। यह संकल्प इच्छाओं के हेतुभूत उत्पन्न होता है। व्यक्ति की अनेकशः आकांक्षाएं होती हैं। वह कतिपय आकांक्षाओं को तो पूर्ण कर लेता है परंतु कुछ इच्छाओं को पूरा करने के लिए वह संकल्प लेता है। वस्तुतः कामना ही आकांक्षा, कर्म तथा व्यवहार का स्तंभ है। अंततः वही जन्म-मरण के चक्रव्यूह अर्थात् संसार का मूल कहा गया है।

मरणोपरांत आत्मा मनुष्य के द्वारा समस्त जीवन में किए गए कर्मों के साथ बाहर निकलता है। वर्तमान जीवन में कृत कर्म ही उसके (व्यक्ति) नवीन स्वरूप का निर्धारण करते हैं जो उसे अग्रिम जन्म में धारण करना होता है।[11] मनुस्मृति के अवलोकन से भी ज्ञात होता है कि शुभ अशुभ कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति का पुनर्जन्म निश्चित होता है तथा कर्मानुसार ही उसे उच्च अथवा निम्न योनि की प्राप्ति होती है। अतः मनुष्य को शुभ कार्य में अपना चित्त लगाना चाहिए।[12]

उपनिषदों में पुनर्जन्म की दो मार्गों की विवेचना की गई है। छांदोग्योपनिषद् में कहा है कि जो लोग यज्ञ करते हैं, जन कल्याण का कार्य करते हैं एवं दान देते हैं, वे चंद्रलोक जाते हैं और जब उनके सत्कर्मों के फल की समाप्ति हो जाती है तो वे उसी मार्ग से वापस लौट आते हैं, जिसके द्वारा चंद्रलोक गए थे। फिर किसी अन्य माता के गर्भ से जन्म धारण करते हैं।

प्रश्न उपनिषद् में भी कहा गया है कि जो ऋषि तप, श्रद्धा तथा ज्ञान के द्वारा आत्मा का स्वरूप जान लेते हैं वे उत्तर की ओर से सूर्य की ओर जाते हैं, जो अमृत हैं भयमुक्त हैं। अतः यहां से वे पुनः लौटते नहीं।[13]

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद[14] में देवयान व पितृयान का वर्णन प्राप्त होता है। कौषीतकि

---

[10] धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ३५५

[11] बृहदारण्यकोपनिषद् ३/२/१३ तथा ४/४/२-६

[12] मनुस्मृति १२/२४

[13] धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ३५८

[14] अथर्ववेद १५/१२-१२

उपनिषद् में भी देवयान एवं पितृयान का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[15]

कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को ब्रह्मविद्या का गहन रहस्य बताया है। कतिपय व्यक्ति दैहिक अस्तित्व के लिए माता के गर्भाशय में प्रवेश कर लेते हैं तथा अन्य अपने कर्मों और ज्ञान के द्वारा स्थाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं।

छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जिन व्यक्तियों के आचरण रमणीय होते हैं उन्हें रमणीय योनि प्राप्त होती है यथा- ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य-योनि। जिनके आचरण बुरे हैं वे बुरी योनि प्राप्त करते हैं उदाहरण- श्व, सूकर, चाण्डाल योनि इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अच्छे कर्म करेगा उसे शुभ फल तथा जो व्यक्ति बुरे कर्म करेगा उसे अशुभ फल की प्राप्ति होती है। वस्तुतः प्रश्न यह उठता है कि कर्म क्या है? और किस प्रकार का है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान हेतु भारतीय विद्वानों ने कर्म के तीन प्रकार बताए हैं- संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म तथा क्रियमाण या संचीयमान कर्म। संचित कर्म से अभिप्राय पूर्व जन्म में किया गया कर्म है। इसके फल का अभी उदय नहीं हुआ है। यह संस्कार रूप में समय की प्रतीक्षा करता है। प्रारब्ध कर्म पूर्व जन्म में किए गए कर्म हैं इनके फलोदय का समय अभी नहीं हुआ है तथा यह भी संस्कार रूप में प्रतीक्षा करता है। क्रियमाण कर्म से तात्पर्य है कि वर्तमान जीवन में किया जाने वाला कर्म। जिसका फल भविष्य में प्राप्त होगा। यह संस्कार निधि है। इसका उपभोग भविष्य काल के लिए है।

मनुष्य पूर्व में किए गए शुभ अशुभ कर्म का फल भोगता है। कर्म का निर्मूलन हो जाने पर मुक्ति हो जाती है।[16] व्यक्ति स्वयं के शुभ-अशुभ कर्मानुसार ही दीर्घजीवी, अल्पायु, सुखी व दुखी होता है।[17]

कर्म के चार फल बताए गए हैं, उत्पत्ति, संस्कार, विकार तथा आप्ति। महर्षि पतंजलि ने कर्म तथा पुनर्जन्म के अंतहीन चक्र को समाप्त करने का साधन ज्ञान को माना है। इस संबंध में मोक्ष की विचारणा उचित प्रतीत होती है। क्योंकि मोक्ष कर्मजन्य नहीं, अपितु नित्य है। जो वस्तु कर्म का कार्य है, अवश्य ही अनित्य है। अतएव मोक्ष को

---

[15] कौषीतकि उपनिषद् १/२-३

[16] ब्रह्मवैवर्तपुराण प्र सं. २६/२०

[17] वही २६/२१

ज्ञानजन्य कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णन प्राप्त होता है कि इस त्रिलोक के मध्य में स्थित एक ही हंस है। हंस परमात्मा को कहा गया है, क्योंकि उसी का साक्षात्कार करके पुरुष मृत्यु को पार कर लेता है। अतः मोक्ष के लिए कोई मार्ग नहीं है। कहा भी गया है-

एको हंसो भुवनस्य मध्ये, स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥[18]

इस संबंध में मुंडकोपनिषद् में भी कहा गया है कि जब ज्ञान के द्वारा मनुष्य का चरित्र शुद्ध हो जाता है तो वह चिंतन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जो न वाणी से, न दृष्टि से और न ही कर्म से प्राप्त हो सकता है अपितु ज्ञान द्वारा ही संभव है।[19] वस्तुतः आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उक्त है कि जब योगी आत्म स्वरूप के दर्शन कर लेता है तो उसे अमृत एवं अभय तत्त्व की प्राप्ति होती है।[20] शुद्ध आत्मज्ञान होने पर आत्मा एवं परमात्मा के एकीकरण का प्रबोध हो जाता है, आत्मज्ञान प्राप्ति के पश्चात कुछ भी अवशेष नहीं रह जाता।[21]

उपर्युक्त उद्धृत कथनों द्वारा ज्ञात होता है कि ऋषि-मुनियों ने उपनिषद् साहित्य में कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष से संबंधित इत्यादि बिंदुओं पर सूक्ष्म चिंतन मनन किया है। कहा जाता है कि उपनिषद् रहस्यात्मक हैं, परंतु वे कर्म की उपादेयता पर भी विशेष बल देते हैं क्योंकि ब्रह्म तत्त्व को जानने के लिए कर्म एक सीढ़ी के समान है। कर्म के द्वारा ही मनुष्य की चित्तशुद्धि होती है। अतः साधन रूप में इसका अत्यंत महत्व है।[22]

---

[18] श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/६/१५

[19] मुण्डकोपनिषद् ३/१/८

[20] श्वेताश्वतरोपनिषद् ११/१४-१५

[21] छान्दोग्योपनिषद् ४/३/२

[22] पुष्पा गुप्ता, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. १४६

छान्दोग्योपनिषद् में आदित्य

डॉ० उमा शर्मा[1]

आर्यों की देवता विषयक सर्वप्रथम तथा प्रमुख अवधावरणा आकाश की दीप्तिमान् शक्तियों से सम्बद्ध थी। **दिव्** धातु से बना देव शब्द ही इसका परिचायक है। आकाश से सम्बद्ध दिव्य शक्तियों में आदित्यों का गण वैदिक साहित्य में अपने महत्त्व के कारण अद्वितीय स्थान रखता है। ऋग्वेद के अनेक उत्कृष्ण देवता इसमें परिगणित है।

छान्दोग्योपनिषद् में आदित्य का द्युस्थानीय देवता के रूप में उल्लेख हुआ है। ऋषि ने अधिदैवतविषयक **उद्गीथ** उपासना-प्रकरण में प्रथमतः 'द्यु' अन्तरिक्ष' और पृथ्वी को कमशः 'उद्गीथ ' के 'उत्' और 'थ' अक्षरों के सदृश कथन किया है। साथ ही उन उत्, गी, थ, अक्षरों का आदित्य, वायु और अग्नि रूप में कथन किया है। यथा- **"द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी यमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थम्।**

इस प्रकार आदित्य देवता का द्युस्थानीय 'वायु' देवता का अन्तरिक्ष स्थानीय एवम् 'अग्नि देवता का पृथ्वी स्थानीय होना द्योतित होता हैं। अन्यत्र भी इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त है, प्रजापति ने लोकों को लक्ष्य बनाकर तप किया और तप्त किए गए उन लोकों से रस निकाले। पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु एवं द्युलोक से आदित्य को ग्रहण किया।

इस कथन से भी आदित्य का द्युस्थानीय होना द्योतित होता है आचार्य यास्क ने भी तीन देवताओं का उल्लेख करते हुए अग्नि को पृथ्वी स्थानीय, वायु और इन्द्र को अन्तरिक्ष स्थानीय एवं सूर्य को द्युस्थानीय कहा है- **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः- अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः।"**

अदिति के पुत्र होने के कारण में ये आदित्य-गण कहलाते हैं। महाभारत में अदिति के गर्भ से प्रकट बारह आदित्य सूर्य के विभिन्न रूप माने गए हैं-

[1] **सहायकाचार्या, संस्कृत-विभाग, एन.ए.एस. कॉलेज, मेरठ**

द्वादशैते समाख्याता आदित्याः सूर्यरूपिणः।

अदितेः गर्भसम्भूताः सर्वदेवपुरोगमाः॥

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि वर्ष के द्वादश मास ही द्वादश आदित्य हैं। ये मास संसार की प्रत्येक वस्तु लेते हुए जाते हैं, अतः आदित्य कहलाते हैं।

ग्रिसवोल्ड ने आदित्यों की एक अत्यन्त सन्तोषजनक व्याख्या की है। उनके अनुसार सभी आदित्य वैदिक देवमण्डल के सर्वोत्कृष्ट एवं आदरणीय देवता वरुण के ही --- विभिन्न विशेषण मात्र है। सम्पूर्ण आदित्यों के लिए मिलकर कोई ऐसा वैशिष्ट्य नहीं जो वरुण के लिए सत्य न हो। वरुण की ही भांति वे भी नैतिक तत्त्वों से युक्त हैं। ऋत की रक्षा करते हैं। ग्रिसवोल्ड के मत में पर्याप्त सामञ्जस्य है।

ब्राह्मणग्रन्थों में आदित्य शब्द विशेष रूप से सूर्य के लिए ही रूढ़ हो गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सूर्य रात्रि में प्रकाशित होने वाले अनेक ज्योतिपिण्डों का उदित होते ही तेज हर लेता है (आ.दा), इसीलिए उसे आदित्य कहते हैं। क्षत्र से हीन वे ज्योतिष्पिण्ड नक्षत्र (**न क्षत्रं येषाम्**) कहलाते हैं - **"नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राणि आसुः। यथैवासौ सूर्यः, एवम्। तेषामेव उद्यन्नेव वीर्यं क्षेत्रमादत्ते तस्मादादित्यो नाम॥**

आचार्य यास्क ने शतपथ ब्राह्मण की उक्त व्याख्या के आधार पर आदित्य शब्द की चार व्युत्पत्तियां की हैं- **१. आदत्ते रसान्। २. आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। ३. आदीप्तो भासा इति। ४. अदितेः पुत्र इति वा।**

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप में सूर्य को ही विवस्वान् कहा है- "**असौ वा आदित्यो विवस्वान् एष हि अहोरात्रे विवस्वते॥**"

अर्थात् यह दिन एवं रात्रि प्रकाशित एवं विभाजित करता है। आचार्य यास्क के अनुसार तीन प्रमुख देवता माने गए हैं- "**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथ्वीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि ता कर्मपृथक्त्वात्।**"

एतदनुसार सूर्य द्युस्थानीय है। कर्मवैविध्य के कारण उनके पृथक् पृथक् नामों का उल्लेख किया जाता है निष्कर्षतः सूर्य ही द्युस्थानीय आदित्य हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में अधिदैवत देवता-विषयक उद्गीथोपासना के प्रकरण में वर्णित है कि उद्गीथ अनेक प्रकार से उपास्य है। यदि तपते हुए आदित्य की उपासना की जाये तो यह प्रजाओं के लिए उद्गान करता है, उदित होकर भय और अन्धकार को नष्ट करता

है तथा प्रकाश होने पर प्रजाओं का बहुविध अज्ञान नष्ट होता है-

"अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यन् तमोभयमपहन्त्य हन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति। य एवं वेद॥

अन्यत्र स्थल-भेद के कारण भिन्न दिखाई देने वाले प्राण और आदित्य में तात्त्विक अभेद माना है-

"समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत्।"

अर्थात् प्राण और सूर्य (आदित्य) परस्पर समान ही हैं। प्राण और सूर्य दोनों उष्ण हैं। प्राण एवं सूर्य की उद्गीथ अर्थात् देवता के रूप में उपासना करनी चाहिए क्योंकि सूर्य तो प्रत्यास्वर अर्थात् अस्त होकर पुनः उदित होने वाला प्रत्यक्ष देवता है।

एक अन्य प्रकरण में कहा गया है कि यह आदित्य **'ओ३म्'** का उच्चारण करता हुआ जाता है॥ 'ओ३म्' उद्गीथ संज्ञक अक्षर है। ऋग्वेद में ऋषियों ने **'ओ३म्'** को प्रणव कहा है। अतः आदित्य ही उद्गीथ है -

"अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।"

यहाँ स्वरन् का अर्थ उच्चारण करते हुए माना है। छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय खण्ड नौ में भी मध्याह्नकालीन आदित्य के रूप को उद्गीथ कहा है-

"**अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥"**

अर्थात् मध्य-दिवस में उद्गीथ स्वर वाले आदित्य के उपासक होने के कारण देवता-गण प्रजापति की सृष्टि में श्रेष्ठ माने जाते हैं।

आदित्यविषयिणी सात प्रकार की उपासना सामोपासनाप्रकरण में निरूपित है कि वृद्धि एवं क्षय का अभाव होने के कारण आदित्य सर्वदा सम है इसी कारण से वह साम है। सभी प्राणी उसे अपने सम्मुख देखते हैं इसीलिए वह सभी प्राणियों में मेरे प्रति इस प्रकार की समान बुद्धि उत्पन्न करता है। अतः इसी समता के कारण वह साम है-

'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत् सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रति इति सर्वेण समस्तेन साम।'

आदित्य में समस्त भूत अवयवविभागानुसार उसके उपजीव्य रूप से अनुगत हैं।

आदित्य का उदय से पूर्व धर्मानुष्ठान का प्रेरक स्वरूप (धर्मरूप) ही हिंकारभक्ति है। उसके अनुगत पशु होते हैं। हिंकारभक्तिरूप से आदित्य के उपजीवी होने के कारण गौ आदि पशु सूर्योदय से पूर्व हिंकार करते हैं-

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥

सूर्य के उदित होने से पहले जो रूप होता है, वह 'प्रस्ताव' है। उसके उस रूप के मनुष्य अनुगामी हैं, सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् (सङ्गवेला) काल में आदित्य का "आदि" रूप होता है। उसके इस रूप के भागी पक्षिगण होते हैं। मध्यदिवस में आदित्य का उद्गीथ रूप होता है। यह उद्गीथ भक्ति का अनुगामी देवता है क्योंकि उस समय वह अत्यन्त प्रकाशशील होता है।

आदित्य का मध्याह्न के पश्चात् एवं अपराह्न के पूर्व का रूप **'प्रतिहार'** है। अपराह्न के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्ववर्ती रूप 'उपद्रव' है। इस उपद्रव भक्ति के भागी वन्य पशु हैं। इसी कारण वे पुरुष को देखकर भयवश अरण्य अथवा गुहा में भाग जाते हैं। सूर्यास्त से पूर्व का रूप 'निधन' है इसके भागी पितृगण होते हैं। इसी प्रकार लोग आदित्य रूप सप्तविध साम की उपासना करते हैं। इस आदित्यविषयिणी सप्तविध उपासना के प्रकरण में आदित्य एकविंश अक्षरों वाला उल्लिखित है- **"एकविंशत्यादित्यादित्यम् ....।"**

इसी द्वितीय अध्याय के चतुर्दश खण्ड में बृहत्साम की उपासना के प्रसंग में बृहत्साम को 'आदित्य' में स्थित बताया है- **"उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तंयन्निधनमेतबृहदा- दित्यययेप्रोतम्"** अर्थात् उदित होता हुआ सूर्य मानों हिंकार है, उदित हुआ सूर्य मानो प्रस्ताव है, मध्याह्नकालीन सूर्य उद्गीथ है, अपराह्नकालीन सूर्य मानो प्रतिहार है, अस्त होता हुआ सूर्य निधनतुल्य है। यह आदित्य में स्थित बृहत्साम है, ऐसा जो समझ जाता है, वह तेजस्वी होता है, अन्नाद् होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, प्रजा और पशुओं के कारण समृद्ध एवं यशः सम्पन्न होता है। तपते हुए सूर्य की निन्दा न करें - यह नियम है।

सवनत्रय के प्रसंग में आदित्य को तृतीय सवन का स्वामी कहा गया है-

"आदित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्"।

तृतीय अध्याय में एक रूपक प्रस्तुत करते हुए आदित्य को देवमधु, द्युलोक को मधु का आधारभूत वंश (डंडा), अन्तरिक्ष को मधु का छत्ता और सूर्य रश्मियों को आदित्य

की सन्तान के रूप में चित्रित किया गया है-

"असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥"

ब्रह्मोपासना' प्रकरण में ब्रह्म 'चतुष्पाद्' रूप में उल्लिखित है, जिसमें आदित्य को उनका एक 'पाद' कहा है -

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः।"

इसी अध्याय के अन्त में तो आदित्य को ब्रह्म ही व्यपदिष्ट कर दिया गया है- **'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'** साथ ही यह भी कहा गया है कि आदित्य को 'ब्रह्म' मानकर उपासना करने वाला आदित्य रूप ही हो जाता है। उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर स्वर आते हैं जो सुखद होते हैं- **'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन्।**

वैश्वानर विद्या के प्रसंग में आदित्य को 'वैश्वानर' आत्मा का 'चक्षु' कहा है--- **चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति** ----।

सृष्टि-प्रकरण में त्रिवृत्करण की प्रक्रिया के वर्णन में कहा गया है- "**यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य** ----।"

अर्थात् जो आदित्य का रोहित रूप है वह तेज का है, जो उसमें शुक्ल रूप है वह जल का है और जो उसमें कृष्ण रूप है वह अन्न अर्थात् पृथ्वी का है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यही स्पष्ट होता है कि आदित्य कर्मवैविध्य एवं स्थल भेद के कारण छान्दोग्योपनिषद् में विविध रूपों में दृष्टिगत होते हैं।

Psychotherapy in Swami Shivanand's view

Dr. Naveen Pant[1]
Dr. Santosh Pant[2]

Psychotherapy is widely used phenomenon now a day. Despite this something is still missing while we need to change, day by day the categories of psychological disorders and therapies. This leads the scholars' attention to the well-established and effective methods to categorize and treat mental disorders. This study is an effort to study the psychotherapy in Vedic perspective.Such as Charak Samhita explais 'Vat, Pitta and Kapha are Physical Disorders and Rajoguna and Tamoguna are Mental Disorders.'[3] Firstly the article explores modern perspectives on psychotherapy including a short discussion of mental health and abnormality and the meaning of psychotherapy. Finally the article have a short look on Indian perspectives on psychotherapy finding the relation with Swami Shivanand's view.

---

[1]*Department of Psychology, GurukulaKangriVishwavidyalaya, Haridwar, U.K. (India)*
[2]*Department of Sanskrit, GurukulaKangriVishwavidyalaya, Haridwar, U.K. (India)*
[3]Charak Samhita (Sutra १/ ५६)

Modern Perspectives on Psychotherapy

What is Mental Health? Generally mental health is a level of psychological well-being, or an absence of a mental disorder. From the perspective of positive psychology or holism, mental health may include an individual's ability to enjoy life, and create a balance between life activities and efforts to achieve resilience. Mental health can also be defined as an expression of emotions, and as signifying a successful adaptation to a range of demands. The World Health Organization defines mental health as "a state of well-being in which the individual realizes his or her own abilities, can cope with the normal stresses of life, can work productively and fruitfully, and is able to make a contribution to his or her community." According to The American Heritage® Dictionary of the English language (२००९)[4] mental health is "A state of emotional and psychological well-being in which an individual is able to use his or her cognitive and emotional capabilities, function in society, and meet the ordinary demands of everyday life." And in other words he defines mental health as "A person's overall emotional and psychological condition."

Some psychologists study, mental illness exploring the concept of mental health. So the question arises that what the mental illness is? Is it a disease entity, as in the standard medical

---

[4] The American heritage® dictionary of the english language, (२००९). Houghton Mifflin Company (४th ed.). Retrieved from http://www.thefreedictionary.com/Mental+health

model, or a myth, as in postmodern critiques, or something in between? A discussion of mental illness needs to begin with a discussion of illness in general, followed by specific matters related to psychiatric conditions. Illness can be defined as something distinct from health. A common view, perhaps the most parsimonious, in medicine is that illness is the absence of health. Hence illness is defined negatively: the opposite of health. A potential problem with this view is that it shifts the burden to defining what health is, and there are as many different views about the nature of health as there are about the nature of illness. An alternative is to define illness based on a specific set of requirements, leaving aside any definition of health. On this perspective, health is the absence of illness. Illness is defined positively, and health negatively. The psychiatrist Aubrey Lewis (१९६७)[5] took this approach and contrasted it to the other one. He begins by quoting the World Health Organization's broad definition of health as "a state of complete, physical, mental, and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity". Lewis goes on to provide criteria for illness based on the process of medical practice: "The criteria of physical illness and health depend upon: first, the patient's account of how and what he feels, i.e., upon subjective statements; secondly, manifest signs of satisfactory or impaired function or structure; and thirdly, occult signs of such adequacy or impairment, detected by special

[5] Lewis, A. (१९६७). The state of psychiatry: Essays and addresses. New York: Science House.

instruments or procedures." Up to this point, Lewis has not discussed psychological or social aspects of physical illness. He does not feel that such aspects are necessary parts of the definition of physical illness, but they are nonetheless important.

If we study the concept of normality deeply we find different meanings of it, as Offer and Sabshin (१९६६)[6] have surveyed in Psychology, Psychiatry, Sociology and Anthropology. Normality as health: in this meaning, common to both traditional medical-psychiatric and lay usage, normality simply means "not sick." Normality as ideal (utopia): it seeks a definition of normality in terms of a desirable or ideal state. Views of positive mental health e. g., Jahoda, १९५८[7] or those which emphasize the goal of psychological development as self-actualization Maslow, १९५४;[8] Goldstein, १९३९,[9] becoming a "fully functioning person" (Rogers), or attaining the "mature personality" (Allport, १९६१)[10] are of this class. Normality as average: a third perspective derives from the

[6] Offer, D., and Sabshin, M. (१९६६). Normality: Theoretical and clinical aspects of mental health. New York: Basic Books.
[7]Jahoda, M. (१९५८). Current concepts of positive mental health. New York: Basic Books.
[8] Maslow, A. H. (१९५४). Motivation and personality. New York: Harper.
[9] Goldstein, K. (१९३९). The organism. New York: American Book Company.
[10]Allport, G. W. (१९६१). Pattern and growth in personality. New York: Holt, Rinehart and Winston.

statistics of measurement on NPC. Normality as socially acceptable: it believes that behaviour can only be judged in terms of the social context within which it occurs. If it conforms the normative expectations of society, it is normal; if it does not, it is deviant or abnormal (of ill mental health). Normality as process: it attempt to characterize normality in terms of processes over time rather than in cross-sectional perspective.

What is Psychotherapy? Generally therapy is concerned with the treatment methods aimed at making people feel and function more effectively. And the "psychotherapy is the therapy for mental disorders in which a person with a problem talks with a psychological professional" (Ciccarelli and Meyer, २००८).[11] There are two types of therapies for treating mental disorders, Psychotherapy and biomedical therapy. Where psychotherapy involves talking things out with a professional and other hand biological methods are applied in biomedical therapy for treating mental disorders. There so many categories of psychotherapies:

१. Insight/ Action Therapy

२. Directive/ Non Directive Therapy

३. Carson and Butcher's Type A, B, C, E Therapy

४. Eclectic Therapy

Indian Perspectives on Psychotherapy

If talk about Psychotherapy in Indian Philosophy there are

---

[11]Ciccarelli, S. K.,and Meyer, G. E. (२००८). Psychology, South Asian edition. New Delhi, India: Dorling Kinderslry.

endless stuff to theorize and practiciseit. Upanisadsand their relatives has nothing but psychotherapeutic and spiriual ways of life.

Yoga and Psychotherapy: Yoga is leading creation of MahamuniPatanjali. Which totally describes the psychological concepts with their clinical use also. The famous and root sutra of PatanjaliYogasutra where Yoga is explained as: **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (Yogashchittavrittinirodhah)[12] (Yoga is restraining the mind-stuff (Chitta) from taking various forms (Vrttis)

Which describes yoga as the inner balance and managing the mental issues. Yoga is a "potent tool of mental health promotion" Singh, १९८६[13].

Geeta and Psychotherapy: When Arjun denied fighting war against his relatives in Kurukshera then Bhagwan Shree Krishna blessed him with the 'GeetaGyan' to fight with his mind set up. That is why Geeta is also thought of as a therapy (CBT) among Indian Psychologists (Sharma, २०१४)[14].

AddvaitVedant and Psychotherapy: A famous tale is: 'No Health without Mental Health' but I will add further 'No Mental Health without Spiritual Health'. Spiritual health comes in the life when an individual live his life in spiritual ways. Advaita theory is based on the spiritual dimension of wholeness and Oneness.

---

[12]Patanjali Yoga Sutras, १/ २

[13] Singh, R.H. (१९८६). Evaluation of some Indian traditional methods of promotion of mental health. Activitas Nervosa Superior, २८, ६७-६९.

[14] Sharma, N. (२०१४). Cognitive behaviour therapy in perspective of the bhagwatgita. International Journal of Humanities and Social Science Invention, ३ (१), २३१९ – ७७२२.

Swami Shivanand Ji and Psychotherapy: The literature of Swami Shivananda is full of psychological concepts of mind and Indian Psychology. He represented Indian Psychology before the world. Swami Shivanand (२००५)[15] in his book Manojay told that there are three types of feeling of self:

SaatvikAhankaar: To feel as I am Brahma.

RajsikAhankaar: To feel like I am a king, or intelligent.

TaamsikAhankaar: To feel I am fool or know nothing.

According to Indian Philosophy root cause of all troubles is ahankaar (feeling of self). And aim of all Gyan, Karma and Bhakti Yoga is to be free from ahankaar or feeling of self. Swami Shivanandji further told ahankar as twofold:

SthoolAhankaar: To feel oneself as a body.

SooksmaAhankaar: To have this feeling of Ahankaar about any theory or school.

---

[15]Shivanand, S. (२००५). Manojay. India (U. K.): Divya Jeevan Sangh.

ईशावास्योपनिषदि अव्यक्ततत्त्वविमर्शः

सुकान्तः[1]

ईशिता सर्वभूतानां सर्वभूतमयश्च यः।
ईशावास्येन सम्बोध्यमीश्वरं तं नमाम्यहम्॥

विश्वस्य प्रचीनतमसाहित्यं वेदोऽस्ति। वेदस्य अनेकासु शाखासु चतस्त्रः एव प्रचलिताः संहिताः। तासां च व्याख्यात्मकग्रन्थाः ब्राह्मणग्रन्थाः सन्ति। ब्राह्मणग्रन्थेषु भागद्वयं वर्त्तते। प्रथमस्तावच्छुद्धब्राह्मणः येषु वेदमन्त्राणां व्याख्यानं कर्मकाण्डानाञ्च प्रतिपादनम्। अपरश्चारण्यकः येषु दार्शनिकमाध्यात्मिकञ्च ज्ञानं लभते। अस्य ज्ञानस्य चरमोत्कर्षः आरण्यकेषु उपनिषद्खण्डत्वेन लभते। प्रत्येकं ब्राह्मणग्रन्थस्य अन्ते आरण्यकः परिशिष्टत्वेन युज्यते इति। प्रत्येकेषु च आरण्यकेषु उपनिषद् अन्त्या भवति। सिद्धान्ततः प्रत्येकम् उपनिषदः सम्बन्धः यया कयाचित् वैदिकशाखया सह सम्बद्धा खलु। अनेन प्रकारेण प्रत्येकं शाखायाः ब्राह्मणग्रन्थः आरण्यकग्रन्थः उपनिषच्च पृथक् एव अभविष्यन्।

वैदिकवाङ्मये उपनिषदां स्थानं सर्वान्ते परिगण्यते। अतो हेतो वेदान्त नाम्ना उपनिषद् अभिधीयते। वेदान्त एव उपनिषद् (ब्रह्मविद्या)।[2] अस्याः ब्रह्मविद्यायाः कारणेन जगति उपनिषदां प्रतिष्ठा अस्ति। प्रस्थानत्रयिषु अपि उपनिषद् प्रथमस्थानम्भजते। इहलोके परलोके वा परमशान्त्यै इयमुपनिषद् एव गरीयसी। ब्रह्मणः स्वरूपम्, आत्मनः लिङ्गम्, अमुत्ररहस्यम्, उपासनाविधिः, उपासनया च अभ्युदयः, निःश्रेयसःप्राप्तिः, सृष्टिरहस्यम्, ब्रह्मानन्दप्राप्त्युपायाः, आत्मनः परमात्मनश्च दर्शनोपायाः उपनिषदि एव लभते। परया अपरया च विद्यया सह कर्मवादः, ज्ञानस्य गरिमा, एकत्वस्य (अद्वैतस्य) च भावना, विश्वबन्धुत्वस्य भावना अमृतत्त्वनिरूपणं नानात्वं भावानायाश्च

[1] **शोधच्छात्रः, ज०ने०वि०वि० देहली**

[2] वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्। वेदान्तसार सदामुनिकृत

नाशः इत्यादिनिदर्शनं उपनिषत्सु लभते। ब्लूमफील्ड नाम्नः विदुषः शब्देषु "भारतीय चिन्तन का ऐसा कोई विषय नहीं है, जो इस उपनषद्विद्या से लाभान्वित न हुआ हो। निश्चय ही भारतीय चिन्तन की तुरीयावस्था उपनिषदों में निहित है।"

अव्यक्ततत्त्व-ज्ञान-सरण्यां भारतवर्षस्य वैशिष्ट्यम् अवर्त्तत। श्रूयते च सकलान्यऽपि भारतीयदर्शनानि दुःखस्याधारशीलायामेवाधितिष्ठन्ति। इह संसारे मनुष्यस्य स्वाभाविकी प्रवृत्तिर्वर्त्तते यत् सः खलु त्रिविधात्मकेभ्यः दुःखेभ्यः ग्रस्तः। यदीह एकैनेवोपायेन दुःखेभ्यः मुक्तिर्भवतु, तर्हि तत्किं सुखं दुःखं वाअपि धनार्जनम्, उताहो गृहदाहः, परीक्षायामुत्तीर्णता उतवा परीक्षायामनुत्तीर्णता। उत्तराणि तु सहर्षमाप्स्यन्ते। परन्तु एतानि सुखदुःखानि क्षणिकाण्यक्षणिकाण्येव उभयथा हि दृश्यन्ते। अत्र सुखमेव सुखमथवेह दुःखमेव दुःखमिति न कश्चिन्निश्चेतुं शक्नोति।

सर्वेषां दर्शनानां लक्ष्यमेकमेव यत् येन केन वा प्रकारेण मूलतत्त्वज्ञानम्भवतु। अनेन ज्ञानेन मोक्षविषयः उपतिष्ठते। तत्र समेऽपि दार्शनिकाः निजदर्शनस्य तत्त्वानां मूलप्रयोजनं मोक्षमेव मन्यन्ते। भारतीयदर्शनानां मूलतत्त्वविषयकं चिन्तनं विविक्तमत्र। सर्वादौ नास्तिकशिरोमणिः चार्वाकः जडपदार्थमेव संसारस्य मूलकारणं मन्यते। पृथिव्यादि चतुष्टयं (पृथिवी, अप, तेज, वायु) जडपदार्थत्वेन स्वीकरोति। एतेषां परमाणुविकारेण चैतन्यमुत्पद्यते। तदेव चैतन्यं अव्यक्तस्य व्यक्तम्। चार्वाकः स्वीयाव्यक्तं प्रमाणयितुं बृहदारण्यकोपनिषदं सम्मुखीकरोति। तस्योपनिषद्वाक्यस्यान्यार्थङ्गृह्णाति। किं कारणं श्रुतेः शरणम् चार्वाकाः? उक्तं हि तत्र-**A scoundrel quotes the Bible for the his own purpose.** अर्थात् स्वार्थसिद्धये दुष्टैरपि बाइबिलइत्यस्य उद्धरणानि दीयते। उत्तरे च बौद्धाः जैनाः नैयायिकाः वैशेषिकाः सर्वेऽपि परमाणुतत्त्वमेव नित्यं मूलतत्त्वञ्च स्वीकुर्वन्ति।

दक्षिणे च मीमांसकाः वैयाकरणाश्च परमाणूनप्यनित्यान् मन्यन्ते, शब्दतत्त्वमेव नित्यम्मूलञ्च मन्यन्ते। सांख्य-योगौ शब्दमप्यनित्यम्मन्येते। यतोहि शब्दस्त्वहंकारस्य कार्यम्, अहंकारस्तु महतः कार्यम्, महत्तु प्रकृतेः कार्यम्, अतः त्रिगुणात्मिकी प्रकृतिरेव मूलमिति। रामानुजाः सांख्यमेवानुसरन्ति। अद्वैतवेदान्तिनः प्रकृतिमपि मूलन्न मन्यन्ते। सर्वमेतत् ब्रह्मणः विवर्त्तमेवास्ति, येन प्रकृतिः सद्वस्तुरूपेण प्रतीयते। अतः नूनं हि ब्रह्म एव मूलङ्खलु। सर्वेषामन्यान्यानि तथ्यानि। सर्वेषु सांख्ययोगयोःअव्यक्तस्यैव पृथक् पृथक् स्वरूपं निरूपितमस्ति।

चार्वाकाः	जडपदार्थम्
बौद्धाः जैनाश्च	परमाणुतत्त्वम्
नैयायिकाः वैशेषिकाश्च	परमाणुतत्त्वम्
मीमासंकाः वैयाकरणाश्च	शब्दतत्त्वम्
रामानुजाः	प्रकृतितत्त्वम्
शांकराः	ब्रह्मतत्त्वम्
सांख्ययोगाः	प्रकृतितत्त्वम्

उपनिषत्परिचयः

सर्वादौ विषयापेक्षयोपनिषच्छब्दस्य निर्वचननेन विषयोऽयं प्रस्तूयते। उपनिषच्छब्दोऽसौ उप नि उपसर्गपूर्वाभ्यां षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु क्विपप्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। अस्य शाब्दिकार्थः उप सामीप्ये नि निश्चयेन सीदति प्रप्नोति यया इति। "***सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वकस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति***"।[3]

उपनिषद् शब्दस्य ब्रह्मविद्येत्यर्थः। उच्यते च यजुर्वेदस्य काठकसंहितायाः कठोपनिषदि शाङ्करभाष्ये।

"ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयतृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्[4] ***। "उपनिषदोऽल्पाक्षरं ग्रन्थविवरणमारभ्यते। य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्, उपनिपूर्वस्य सदेरवमर्थस्मरणात्।"***[5]

अक्षमालोपनिषदः हेरम्बोपनिषद् यावत् उपनिषदां संख्या तु द्विशतात्मिका उपलभ्यते। परन्तु विबुधाःएकादशोपनिषदः एव प्रामाणिक्यः मन्यन्ते।

ईश केन कठ प्रश्न मुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयञ्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश।[6] **श्वेताश्वतरेकादशः॥**

सम्प्रति तु एतासु दशस्वेवोपनिषत्सु आचार्यशंकरस्य भाष्यमुपलभ्यते। अत्रापि विबुधेषु मतैक्यता नावलोक्यते।

---

[3] कठोपनिषद् शांकरभाष्यम्।

[4] कठोपनिषद् शांकरभाष्यम्।

[5] मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्यम्।

[6] मुक्तिकोपनिषद् २/३०

अव्यक्ततत्त्वविमर्शः

अव्यक्तमिति किम् ? सांख्यदर्शने प्राथमिकतया द्वे स्वतन्त्रे तत्त्वे विवेचिते। प्रथमः जडा प्रकृतिः अपरश्चेतनः पुरुषः। विलक्षण-वैभूतिकी, ऐहिकैश्वर्यशालिनी, सृष्टेः सञ्चालिका नैजजडत्वेनाविद्यारुपधारिणी प्रकृतिः 'माया' इत्युपाधिमलङ्करोति।

"प्रकृतिरिति उच्यते विचारोत्पादकत्वात्, अविद्याज्ञानविरोधित्वात् 'माया' सृष्टिकारणत्वात्[7] ।" गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः।[8] "तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः। नासावन्यत्र कस्यचिद्विकृतिः। प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्।[9]

अपरा च कारणैर्वियुक्तैषा प्रकृतिः अजा; पुनरपि सृष्टेः जन्मदात्री अस्ति। अतः मूलप्रकृतिरुच्यते[10] । अखिलविश्वस्य कारणीभूतत्वेन आद्यमौलिकतत्त्वस्य हेतोः प्रकृतिरियं प्रधान इति कथ्यते। सर्वाणि कार्याणि पदार्थानि वा व्यक्तानि एव। अमीषां कार्याणाम्कारणमव्यक्तमेव। समस्तान्यपि वस्तूनि अस्यामेवाव्यक्तप्रकृतौ सन्निहितानि। तद्यथा-

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥[11]

ईशावास्योपनिषद्यव्यक्तचर्चा

विषयानुसारमीशावास्योपनिषदः भाष्येषु अव्यक्ततत्त्वस्य परिकल्पना। अत्र आचार्यशंकरस्य स्वामिदयानन्दस्य च व्याख्यानपरम्परामनुसरन् सांख्यस्य सृष्टेः प्रसविल्याः प्रकृतेः अव्यक्तस्य चर्चा लिख्यते।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

आचार्यशंकरः निजभाष्ये असम्भूतिरित्यस्य पदस्य व्याख्यायां प्रकृतिरित्यर्थङ्करोति।

"सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः, तस्या अन्या असम्भूतिः

---

[7]सांख्यप्रवचनभाष्यम् ।

[8]सांख्यप्रवचनभाष्यम्

[9]सर्वदर्शनसंग्रह पृष्ठसंख्या; ५२८

[10]सांख्यकारिका ३

[11]सांख्यकारिका १०

प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या"[12] ।

अत्रोच्यते कारणमविद्या असम्भूतिः। अतः इहैव पठिते मन्त्रे "***अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते***" इत्यत्र अविद्यायाः आशयः आचार्यः प्रकृतिः अथवा कारणमिति न अपितु "***कर्मणो विरोधित्वात्; तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणमेव***"[13] इति व्याख्यायते।

स्वामी दयानन्दः यर्जुर्वेदभाष्ये असम्भूतिमित्यस्य "***अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु***" [14] इत्यर्थङ्गृह्णाति। येन ईशावास्योपनिषदि अव्यक्ततत्त्वस्य परिकल्पना स्फुटीभवति। मन्त्रेऽस्मिन् आचार्ययोः शंकरदयानन्दयोः मतैक्यता दृग्गोचरीक्रियते। परन्तु अविद्या विषये दयानन्दः मतैक्यन्न प्रकटयति।

"***अनित्याशुचिदुःखानामात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम्***"। इहापि ऋषिः अविद्यामव्यक्तत्वेन स्वीकरोति।

अमुमेवाव्यक्ततत्त्वङ्गीतायामपि श्रीकृष्णः अक्षर इति मन्यते। तत्राह-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरः उच्यते॥

"***क्षरो विनाशी एको राशिः अपरः पुरुषः अक्षरः तद्विपरीतो भगवतो मायाशक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्य उत्पत्तिबीजम् अनेकसंसारिजन्तुकामकर्मादि-संस्काराश्रयः अक्षरः पुरुषः इति।***"[15]

मायेति पदेन वाच्यमव्यक्तं पदं सांख्यस्याव्यक्ततत्त्वचर्चायां निगदितमेव। अनेन ज्ञायते यत् अयं कूटस्थः अक्षरः अव्यक्तमेव। उक्तञ्च-

अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

अयं अक्षरः अव्यक्तः परमगतेः अधिष्ठानत्वं भजते। अत्र प्राप्य मनुष्यः न निवर्त्तते।[16] माण्डूक्योपनिषदि च अक्षरब्रह्मणः अव्यक्ततत्त्वस्य वर्णनमुपलभ्यते। अक्षरस्य प्रधानतत्त्वस्य सकलविश्वकारणत्वं प्राप्यते। लूतातन्तु-न्यायेन तथा

---

[12]ईशावास्योपनिषद् शांकरभाष्य मन्त्रसंख्या ११

[13]ईशावास्योपनिषद् शांकरभाष्य मन्त्रसंख्या ९

[14]यजुर्वेदभाष्यम् मन्त्रसंख्या ९

[15]शांकरभाष्यम् गीता श्लोक; १५/१६

[16]गीता ८/२१

युगपत्बदरप्रक्षेपण-रूपकेण च अत्राव्यक्ततत्त्वस्य कारणत्वं विशदयति।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमनि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥[17]

गीतायाञ्च पराप्रकृतिः इति पदेन अव्यक्ततत्त्वस्य चर्चा श्रूयते। जीवभूता क्षेत्रज्ञलक्षणा प्राणधारणनिमित्तभूता पराप्रकृतिः शुद्धाप्रकृतिरिति कथ्यते।[18]

अपरेऽयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

मुण्डकोपनिषदि शौनकांगिरर्ष्योः प्रश्नोत्तर-प्रसंगे द्वयोः विद्ययोः चर्चा श्रूयत एव। ***"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।"***[19] **तत्र च पराविद्याविषये मुण्डकोपनिषदि स्फुटं निगदितम्।**

*"**यदेतद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।" नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।**"*[20]

निष्कर्षः-

मूलतत्त्वज्ञानेन मोक्षस्य परिकल्पना भारतीयदर्शनानाम्मूलम्। श्रुतिः, स्मृतिः, ब्राह्मणोपनिषद् इत्यादयःअव्यक्तं हि (मूलम्) प्रतिपादयन्ति। उपर्युक्तेषु उद्धरणेषु सारोऽयं लभते यत् सांख्यस्य अव्यक्ततत्त्वम्, प्रधानतत्त्वम्, ईशावास्योपनिषदः व्याख्यासु लब्धमानः असम्भूतिः, स्वामिदयानन्दानुसारेण अविद्या इति व्याख्यानतो ज्ञायते। अपरे मुण्डकोपनिषदः पराविद्याक्षरश्चेति, श्रीमद्भगवद्गीतायाः अपराप्रकृतिः, मीमांसकानां वैयाकरणानाञ्च शब्दतत्त्वम्, अद्वैतवेदान्तीनां ब्रह्मतत्त्वम्। समेऽपि दार्शनिकविद्याकराः ग्रन्थाः तमेव वेदान्तमताव्यक्ततत्त्वं मुहुर्मुहुः श्रुतिस्मृत्यानुसारेण अव्यक्तमिति निर्दिशन्ति। यतोहि तज्ज्ञानेन विना मुक्तिरसम्भवा- ***नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥***[21]

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

---

[17] मुण्डकोपनिषद् प्रथममुण्डक प्रथमखण्ड श्लोकसंख्या.७

[18] गीता ७/५

[19] मुण्डकोपनिषद् प्रथममुण्डक प्रथमखण्ड मन्त्रसंख्या.४

[20] मुण्डकोपनिषद् प्रथममुण्डक प्रथमखण्ड मन्त्रसंख्या ६

[21] यजुर्वेदसंहिता अध्याय २१ मन्त्र १८

मोक्षप्राप्ति में ज्ञान-कर्म की भूमिका

अवधेश कुमार[1]

कर्म कस्मात्? क्रियते इति सतः।[2]

यास्क के इस निर्वचन से कर्म का सामान्य अर्थ है - जो किया जाए। कर्म शब्द कार्य संपादन के अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त होता है। इसको स्वामी दयानन्द के शब्दों में इस प्रकार और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है– "जो मन इंद्रिय और शरीर में, जीव चेष्टा विशेष करता है वह कर्म कहलाता है।[3] स्वामी जी ने कर्म की इस परिभाषा में कर्त्ता, साधन एवं कर्म तीनों को स्पष्ट किया है– कर्त्ता- जीवात्मा, साधन- मन, इंद्रिय तथा शरीर; कर्म- चेष्टा विशेष।

स्वामी जी ने कर्म को शुभ, अशुभ तथा मिश्र तीन प्रकार का माना है।[4] अथर्ववेद के अनुसार मनुष्य शुभ कर्मों से मोक्षसुख, अशुभ कर्मों से नरक रूप दुखों को तथा शुभाशुभ मिश्र कर्मों से मानव शरीर धारण करता है-

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ्विगच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते॥[5]

फल की दृष्टि से हम कर्म का विभाजन दो प्रकार से पाते हैं- सकाम एवं निष्काम कर्म। "संसार के भोगों की इच्छा से इहलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जो धर्म युक्त कर्म किए जाते हैं वह सकाम कर्म हैं। मोक्ष अर्थात् दुखों से छूटकर केवल परमेश्वर की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले धर्मयुक्त कर्म निष्काम कर्म हैं"।[6]

---

[1] **शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

[2]निरुक्त३/१

[3]आर्योद्देश्यरत्नमाला पृष्ठ ४८

[4]वही पृष्ठ ४८

[5]अथर्ववेद ११/८/३३

[6]ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, पृष्ठ २८८

सकाम कर्म से मनुष्य को पुनः पुनः मृत्युलोक में आना ही होगा अतः जीवन के मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति में निष्काम कर्म ही सहायक हैं। निष्काम कर्म को उपनिषद् किस रूप में प्रस्तुत करता है यही प्रस्तुत लेख का विषय है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि का कारण ब्रह्म को कहा गया है-

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।[7]

उसी ब्रह्म के प्रभुत्व से कर्म का विवर्त्तहो रहा है। वह कर्म का संचालन करके फिर स्वयं उसमें से निवृत्त हो जाता है–

तेनेशितं कर्म विवर्त्तते......।[8]

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।

एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः।[9]

निष्काम कर्म के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद्में आगे कहा है-

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।

तेषामभावे कृतकर्मनाशःकर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥[10]

त्रिगुणों से युक्त कर्मों को आरम्भ कर उनसे भावों को जो युक्त करता है उन भावों के अभाव में कृत कर्मों का नाश करने हारा वह ब्रह्म कर्मक्षय होने पर तत्वों से पृथक हो जाता है। डॉ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के शब्दों में- भाव (मन की सकाम-भावना) का अभाव हो जाए, वह हट जाए तो कृत कर्म का नाश हो जाता है। भाव न रहे तो कर्म होने पर भी मानो कर्म नहीं होता।[11]

स्पष्ट ही है कि निष्काम कर्म का यही स्वरूप है। उक्त उपनिषत्-संदर्भ सेनिष्काम का साधारणतया यही अर्थ प्रतीत होता है कि **कर्म-संपादन में कामना अथवा भावों का अभाव हो जाए।** बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है-

---

[7]श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१

[8]श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/२

[9]श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/३

[10]श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/४

[11]एकादशोपनिषद् पृष्ठ १०२८

पुण्यो वैपुण्येन कर्मणा भवति पापःपापेनेति.....[12]

अर्थात् सकाम भावना हो तो पुण्य कर्म से पुण्य फल प्राप्त होगा और पाप कर्म से पाप फल की प्राप्ति अनिवार्य है। इसी कर्म फल से भावी योनि की प्राप्ति होती है–

अथ खलु क्रतुमयःपुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतःप्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥[13]

पुरुष जैसा इस लोक में कर्म करता है वैसा ही यहां से चलकर वह आगे होता है। अतः कर्म अवश्य करे। परन्तु कर्म के मूल में कामना का अभाव होना आवश्यक है। उक्त प्रसंग में यह विचारणीय हो जाता है कि कर्म में कामना अथवा भावना का अभाव कैसे हो? इसको स्पष्ट करते हुए ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[14]

इस चराचर जगत में शास्त्र विहित कर्मों को ईश्वरपूजा के निमित्त करते हुए और परब्रह्म का स्मरण करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीवन यापन करना केवल उस परमात्मा की पूजा के निमित्त ही है, अपने लिए कुछ नहीं ऐसी दृढ़-भावना बना लेने से वे कर्म, बंधन में नहीं बांध सकते और मनुष्य निष्काम-मार्ग का अनुगामी बन मोक्षोन्मुख हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कर्म के पीछे की कामना का अभाव तभी संभव है जब कर्म को ईश्वर में समर्पित कर सम्पादित किया जाये।

परंतु इसी प्रसंग में यह बात विचारणीय है कि मात्र निष्काम कर्म ही मोक्ष को प्राप्त नहीं करा सकते हैं। उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या है। मुण्डकोपनिषद्में ऋषि

---

[12]बृहदारण्यकोपनिषद् ३/२/१३

[13]छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१

[14]ईशावास्योपनिषद्१-२

"तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि"[15] यह उपदेश करता है। जीवन का उद्देश्य उसी ब्रह्म को प्राप्त कर लेना है-

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्यतद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥[16]

हे सोम्य! उपनिषद्रूप महान् अस्त्र रूपी धनुष को ग्रहण करके उपासना रूप तेज शरका सन्धानकरके उस अक्षर ब्रह्म रूप लक्ष्य में लगे चित्त से धनुष को खींचकर अक्षर रूप लक्ष्य को वेध डाल। अर्थात् वह अक्षर ब्रह्म ही एकमात्र लक्ष्य है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप का विचार करना प्रस्तुत लेख का विषय नहीं है तथापि सामान्य शब्दों में कहें तो ब्रह्म प्राप्ति ही मोक्ष है। ब्रह्म की प्राप्ति अथवा ब्रह्ममय कैसे हो इस विषय को मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है-

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥[17]

अर्थात् वह ब्रह्म चक्षु से न वाणी से न इंद्रियों से न तप से और नही कर्म से प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध अंतःकरण वाला व्यक्ति ध्यान करता हुआ उस निष्कल ब्रह्म को प्राप्त करता है। इसी विषय में प्रश्नोपनिषद् में भी ऐसा ही उल्लेख है-

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वैतदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञःसर्वो भवति।[18]

हे सोम्य! वह जो निश्चयपूर्वक उसतमोविहीन, शरीररहित, लोहितादि गुणों से शून्य, शुद्ध एवं अविनाशी पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस परम अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त होता है। वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को अभीष्ट है कि यह जो कर्म कीनैरन्तर्यपरंपरा दीर्घकाल से सतत है इसका बाध कर लेना चाहिए और इस हेतु उपनिषद् का उपदेश है कि कर्म को ब्रह्म में अर्पित कर उस कर्म के प्रति नितान्त उदासीनता को धारण करना चाहिए। साथ ही ज्ञान के प्रसाद से अपना अन्तःकरण विशुद्ध करना भी मुख्य है।

---

[15]मुण्डकोपनिषद्२/२

[16]मुण्डकोपनिषद् २/३

[17]मुण्डकोपनिषद् ३/१/८

[18]प्रश्नोपनिषद् ४/१०

चारों वेदों के प्रमुख उपनिषद् ग्रन्थ

डॉ० स्नेहलता

चारों वेदों की उपनिषदें आत्मज्ञान का महा सागर हैं।

इन उपनिषदों से ही होते जीवन के तथ्य उजागर हैं।

ऐतरेय और कौषीतकि उपनिषदें हैं ऋग्वेद की।[1]

ऐतरेय में विद्या है सृष्टि के रहस्यमय भेद की।[2]

कृष्ण और शुक्ल दो प्रकार की शाखाएं हैं यजुर्वेद की।

कठ तैत्तिरीय आदि उपनिषदें हैं कृष्ण यजुर्वेद की।[3]

कठोपनिद् में यम और नचिकेता की कथा का वर्णन है।[4]

तैत्तिरीय में भू: भुवः स्वः मह: चार व्याहृतियों का वर्णन है।[5]

---

[1] वैदिक साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय

[2] स इमाल्लोकान् सृजत। अम्मो मरीचीमरमापः। अदोऽम्मः परेण दिवं द्यौ प्रतिष्ठा; अन्तरिक्षं मरीचयः पृथिवीमरो; या अधस्तात आपः ॥२ ॥ ऐतरेयोपनिषद- प्रथम अध्याय; प्रथम खण्ड

[3] वैदिक साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय

[4] कथा का आस्य- अध्याय १. वल्ली १ से लेकर वल्ली ६ तक
उशन् ह वै वाजस्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह वै नचिकेता नाम पुत्र आस। कठोपनिषद्- अध्याय १, वल्ली १ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै। कठोपनिषद् अन्तिम छठी वल्ली

[5] (क) भूरिति वा अयं लोकः। भुवः इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ॥१ ॥
(ख) भूरिति वा अग्निः। भुवः इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ॥२ ॥

तैत्तिरीय के दशवें भाग की उपनिद् महानारायण है।[6]

श्वेताश्वतर में ब्रह्मचक्र और योगाग्नि का वर्णन है।[7]

शुक्ल यजुर्वेद की बृहदारण्यक और ईशोपनिषद् हैं।[8]

बृहदारण्यक में जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद हैं।[9]

इसमें राजा अजातशत्रु और गार्ग्य की गूढ वार्तायें हैं।[10]
गार्गी मैत्रेयी के वार्तालाप और अनेक अवान्तर कथाएं हैं।[11]

(ग) भूरिति वा ऋचः। भुवः इति सामानि। सुवरिति यजूषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा । महीयन्ते।३ ॥

(घ) भूरिति वै प्राणः। भुवः इत्यपानः। स्वरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ॥४ ॥ तैत्तिरीयोपनिषद्- पंचम अनुवाक

[6] तैत्तिरीयोपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि इसका दसवाँ प्रपाठक महानारायण उपनिषद् है।

[7] (क) पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो, न जरा, न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२ ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् - अध्याय २

(ख) सर्वा जीवे सर्वसस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति ॥६ ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् १

[8] वैदिक साहित्य का इतिहास - आचार्य बलदेव उपाध्याय।

[9] जनको ह वैदेहो आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आ वव्राज। तं होवाच याज्ञवल्क्य! किमर्थमचारी! पशूनिच्छंन्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥१ ॥ बृहदारण्यकोपनिषद्, चौदह अध्याय, प्रथम ब्राह्मण

यह ऐतिहासिक वार्ता है- एक बार विदेहराज जनक जब अपने सभाभवन में बैठे हुए थे, उस समय वहाँ याज्ञवल्क्य आ गये। राजा जनक ने उनसे कहा- हे याज्ञवल्क्य! किस प्रयोजन के लिए तुम यहाँ आये हो? क्या पशुओं को चाहते हुए अथवा सूक्ष्म सिद्धान्तों को जानना चाहते हुए यहाँ आये हो? याज्ञवल्क्य ने कहा- महाराज! दोनों को ही चाहता हुआ मैं यहाँ आया हूँ। इसके बाद जनक और याज्ञवल्क्य में अनेक वार्तालाप हुये।

[10] दृप्त बालाकिर्हनूचायो गार्ग्य आस। स होवाच ज्ञातशत्रु काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति। बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय १ बाह्मण १

दूसरा ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का ही ४०वां अध्याय है।
जो ज्ञान, कर्म, त्याग और ईश्वर भक्ति का पर्याय है।[12]
सामवेद की छान्दोग्य, जैमिनि और केनोपनिषद् हैं।
छान्दोग्य में प्रणव उपासना के उद्गीथमय स्वर हैं।[13]
सत्यकाम, जाबाल, उपकौसल और रेकों के प्रसंग हैं।[14]
वेदत्रयी का सार और ब्रह्म की महत्ता आदि इसके अंग हैं।[15]
केनोपनिषद् में हैं ब्रह्म की अद्भुत शक्ति का विवरण।
नष्ट हो गया था जिसके द्वारा देवों के अहंकार का आवरण।[16]

---

[11] (क) गार्गी याज्ञवल्क्य वार्तालाप - बृहदारण्यक उपनिषद् -३/८
(ख) मैत्रेयी याज्ञवल्क्य वार्तालाप- बृहदारण्यक उपनिषद् -२/४

[12] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥ ईशावास्योपनिषद्-१

[13] (क) अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति। छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक १ खण्ड ५
(ख) ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।
छान्दोग्योपनिषद्- प्रपाठक १ खण्ड १

[14] (क) सत्यकामो ह जाबालो मातरममन्त्यां चक्रे।
ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि। कि गोत्रोन्वहयस्मीति॥१॥ छान्दोग्योपनिषद्-प्रपाठक ४ खण्ड ४।
(ख) उपकौसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुपास। तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्। १/१०। छान्दोग्योपनिषत्, प्रपाठक ४, खण्ड १०
(ग) छान्दोग्योपनिषत्- प्रपाठक ४ खण्ड २

[15] (क) ऋचो यजूंषि सामनित्यष्टावक्षराणि। अष्टाक्षरं ह वा एक गायत्र्यै पदम्। एतदु हैवास्या एतत्। स। यावतीयं त्रयी विद्यां तावद्ध जयीत योऽस्या एतदेव पदं वेद॥२॥
(गायत्री मन्त्र के प्रथम आठ अक्षर वेदत्रयी का सार है।) बृहदारण्यकोपनिषद् ब्राह्मण५ अध्याय ११
(ख) प्राणो ब्रह्म। खं ब्रह्मेति। छान्दोग्योपनिषत्-प्रपाठक ४ खण्ड १०

अथर्ववेद की प्रश्न, माण्डूक्य और मुण्डक उपनिषदें हैं।
प्रश्नोपनिषद् में शिष्य गुरु पिप्लाद से प्रश्न पूछते हैं।[17]
माण्डूक्य ऋषि प्रणेता हैं माण्डूक्य उपनिषद के।
वर्णन है इसमें ओ३म् अक्षर के अकार, उकार, मकार के।[18]
अथर्ववेद की अन्तिम और तीसरी उपनिषद् मुण्डक है।
पाप ताप को मुंडने वाली होने से इसका नाम मुण्डक है।
अंगिरा ऋषि और शौनक के वार्तालाप का विवरण है इसमें।[19]
उस परपुरुष पर ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है इसमें।[20]
चन्द्र सूरज तारकावलियों को जो करता प्रकाशमान है।
ज्योतियों का अतीत है वह ब्रह्म और सर्वशक्तिमान् है।[21]

---

[16] ब्रह्म ने सृष्टि के रचनाकर अग्नि पवन आदि देवगणों में भी शक्ति की स्थापना की। देवों ने सोचा कि यह सृष्टिरचना का महान् कार्य हम देवों के द्वारा ही हुआ है; इसलिए वे अहंकारी हो गये। ब्रह्म ने यक्ष का रूप धारण कर देवगणों की एक तिनके के द्वारा परीक्षा लेकर उनका अभिमान नष्ट किया। केनोपनिषत् खण्ड ३/१-३/१२

[17] प्रथम प्रश्न से लेकर छठे प्रश्न तक- प्रश्नोपनिषत्। एक समय भरद्वाज का पुत्र सुकेश, शिवि का पुत्र सत्यकाम, गर्गगोत्री सोर्यायणी, अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु का पुत्र वैदर्भ, कत का पोता कबन्धी, ये ईश्वरभक्त शिष्य बनकर परब्रह्म को खोजते हुए हाथों में समिधाएं लेकर अपने प्रश्नों के समाधान के लिए पिप्पलाद ऋषि के पास गए।

[18] ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानं भूतभवत्भविष्यादीनि सर्वमोंकार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१ ॥ अथ माण्डूक्योपनिषत् ॥

[19] अथर्ववेदीय इस मुण्डक उपनिषद् में प्रथम मुण्डक से द्वितीय मुण्डक तक ऋषि अंगिरा और शौनक के वार्तालाप हैं।

[20] ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। मुण्डकोपनिषद्-प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्यः ॥१० ॥ मुण्डोकोपनिषद् - मुण्डक-२, खण्ड-१

जानकर उस ब्रह्म को और कुछ भी जानना ना शेष है।

मृत्यु का पथ पार करने के लिए अन्य कोई मार्ग ना अवशेष है।[22]

अतः १०८ उपनिषदों में वेद की मुख्य उपनिषदें तो यही हैं।

सब में आत्मतत्त्व और ब्रह्म शब्द की व्याख्याएं ही हैं।

---

[21] न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥१०॥ मुण्डोकोपनिषद् -मुण्डक-२, खण्ड-२

[22] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽनयाय॥८॥ श्वेताश्वतरोपनिषत्-अध्याय ३

परिकल्पानायाः ब्रह्मॉसपर्यन्तम्

डॉ० ए० शिवताणुपिल्लैः

(डॉ आपत्तुकान्तशिवताणुपिल्लेवर्याः क्रूजप्रक्षेपास्त्रब्रह्मॉसस्य वास्तुकाराः। एते अस्याः परियोजनायाः कार्यकार्यधिकारिणः प्रबन्धनिदेशकाश्चाभवन् येषां भारतीयान्तरिक्षानुसन्धानसंघटने रक्षानुसन्धानविकाससङ्घटने च भारतस्य प्रक्षेपास्त्रकार्यक्रमाणां चत्वारिंशद्वर्षाधिको महान् अनुभवो वर्तते।

भारतसर्वकारेण पद्मश्रीपद्मभूषणालङ्करणाभ्यां रूसदेशस्य सर्वकारेण च आर्डर ऑफ केरिट इत्यलङ्करणेन सम्मानिताः। प्रस्तुतोऽयं लेखः तैर्लिखितपुस्तकस्य आर्यभाषानुवादस्य "ब्रह्मॉस प्रक्षेपास्त्र की सफलता अज्ञात राहों का अभियान" इत्यस्य भूमिकाभागो वर्तते। लेखोऽयं वैज्ञानिकस्य विज्ञानदृशा सह प्रकृतौ रममाणान् भावान् अपि प्रकटयति।)

अरबसागरसंस्थितादेकस्मात् युद्धपोतात् ब्रह्मॉसप्रक्षेप्यस्य चामत्कारिकस्य सफलोड्डयनस्य पश्चात् एकस्मिन् दिवसेऽहं सुदीर्घां जलयात्रां परिसमाप्य पश्चिमतटं प्रति गोवां निकषा आगच्छन्नासम्। सुसफलस्यास्य प्रक्षेपणस्यानन्तरं जलयाने उत्सव इवावर्तत। अस्माकं व्यवस्थातन्त्रं कियदुत्कृष्टम्? पूर्णतः त्रुटिहीनं निश्चितं तीव्रतमञ्च अस्ति।

यः कक्षः यात्रायामस्यां मदुपयोगार्थं मह्यं प्रदत्त आसीत् तमहं नायककक्षं प्रतिनिवृत्तः। तत्रोपविश्याहं सफलं प्रक्षेप्यास्त्रस्य प्रदर्शनं भाविकार्यक्रमांश्चान्यानधिकृत्य संक्षिप्तं किमपि विवरणादिकं कर्गदे अङ्कयितुमारेभे। अभिनवान् कांश्चित् स्वप्नान् द्रष्टुमहमभिनवमेव वायुमपेक्षे इत्यकस्मान्मे प्रतिभासोऽभूत् कश्चित्। अतोऽहं जलयानस्य मूर्ध्नि वर्तमानस्य पोताधिकारिणे निर्धारितस्य आसनस्योपरि नौसैन्यदलनायकस्य तमुच्चासनमध्यतिष्ठं यस्योपरि श्वेतवस्त्रमासीत्। तस्मिन् पोतासने (पोताधिकारिणः चत्वरे) अहमात्मना द्वितीय आसम्। तस्यां नीरवतायामहं प्रकृतेः शोभा निभालयितुं

व्यस्तोऽभवम्। सांयकालीनो मन्दशीतलसमीरणः तत्समुद्रोद्भवः मामालिङ्गन्नवर्तत। अस्ताचलं प्रतिष्ठतो मरीचिमालिनो मरीचिणां विकीरितां वक्राविभा तिरश्चिना सती समुद्रतलमभिव्याप्य प्रासरत्। सूर्यो यथायथं नीचैः गन्तुं प्रावर्तत तदीयकिरणाः नारङ्गवर्णकाः तथैव मेघान् भित्वा तत्पारमियासवोऽभवन्। अतिनीलः कृष्णः एव वा प्रायः तत्कालीनो जलनिधिर्निजतरङ्गैस्सङ्गीतमयलयेन केनचित् अस्मज्जलयानस्य अधस्तलमनारतं प्रहरन्नासीत्। प्रहारैरेतैरुदबिन्दव उद्गच्छन्तो जलयानस्योपरि आपतन्तोऽभवन्। मत्स्यामनेके यूथाः उत्प्लुत्योपरि आगामङ्गामं पुनरन्तः समुद्रं न्यलीयन्त। सन्ध्याऽपि शनैश्शनैः रात्रितया परिणमन्ती आसीत्। अहमाकाशं प्रत्युन्नमितलोचनोऽभवम्। चन्द्रमाऽपि उज्जिगमिषति स्म चन्द्रिका चैतदीया दुग्धधवला निजदीप्तिं परितः प्रसारयन्ती आसीत्। तारकाण्यपि तदा द्योतनपरतां प्राप्नुवन्ति स्म। अहमन्यदेवेक जगत् प्रापम्। अरबोदधेरुरसि कीदृशमदो मनोहरद् दृश्यमासीत्।

सहसा मे मनः तस्मात् सौन्दर्यरसपानात् विरराम। निखिलाः अपि ताः विगताः घटनाः चलचित्रमिव मम मानसपटलमुद्बुद्धाः बभूवुः यासां परिणामतया प्रक्षेप्यास्त्रपरियोजनायामस्यां वयमभूतपूर्वमेव किमपि साफल्यमधिगन्तुं शेकुः। परीक्षणस्यायं निखिलः कार्यक्रमः नौसैन्यबलनिरस्तमेकं जलयानं लक्ष्यीकृत्य विहीतेनामोघेन प्रक्षेप्यास्त्रस्य प्रहारेण तथैव प्रारभ्यत यथा धनुर्विद्यायां शरव्यं किमपि सुष्ठ भिद्यते। प्रक्षेप्यास्त्रमेतद्धि नैकेषु निजप्रक्षेपणमार्गेषु अतितीव्र विसर्पद् केवलतया निजतीव्रगत्या अवशिष्टेन्धनशक्त्या च निर्धारितानि स्वलक्ष्यानि भस्मीकर्तुं सफलीबभूव। परियोजनायाः सर्वान् मानदण्डान् परिपालयतः लक्ष्याणि स्वीयानि नाशयतश्चास्य प्रक्षेप्यास्त्रस्य परीक्षणपरिणामाः सर्वात्मना तादृशा एवासन् यथा कस्मिंश्चित् पुस्तके पूर्णपरिशुद्धास्ते वर्णिताः दृश्यन्ते। भारतीयाः नौसेनायाः कृते आसीदपूर्वेयं काचित् सफलता अपूर्व एवानुभवश्च कोऽपि। भारतरूसदेशयोर्वैज्ञानिकानां समवेतप्रयत्नैः प्रक्षेप्यास्त्रमिदं द्रढिष्ठं तादृशमाकारं प्राप्तुमपारयत् यो हि वरुधीनीनां विविधाः अपेक्षाः पूरयितुमलमासीत्। प्रक्षेप्यास्त्रस्य परीक्षणात्मकं प्रक्षेपणमिदं निखिलविश्वस्य प्रक्षेप्यास्त्रविदो वैज्ञानिकान् विश्वसनीयतासहितेन अत्युत्कृष्टेन स्वप्रदर्शनेन चकितचकितान् अथ च अवाचः अकरोत्। निखिलेऽपि जगति कृतविकासानां प्रक्षेप्यास्त्राणामितरेषामपेक्षतया अस्त्रस्यास्य अतिगुणिनी प्रदर्शनक्षमतैषा अतुलनीय

श्रेष्ठैव च सिद्धाभवत् भावुकतायामाकण्ठमग्नश्चायं जनोऽभूत्। ब्रह्मॉसप्रक्षेप्यास्त्रेणानेन पुनरपि जगतितलेऽस्मिन् निजश्रेष्ठताध्वजः उत्तोलितः आसीत्।

प्रत्येकं सफलप्रक्षेपणानन्तरमुच्छलत्तरङ्गाः प्रसादपयोधेः मां परिवृत्यावर्तन्त इति भूयोभूयोऽनुभूयमान एवासीत्। सायंत्रिकदलेन तत्रत्येन आयोज्यमानः हर्षोत्सवः गुञ्जायते स्म। अहं परियोजनायास्तानारम्भिकदिवसान् पुनः स्मरन् चिन्तयंश्चासं तानि कारणानि यैः योजनेयं फलवती जाता। आरम्भिकास्त एव दिवसाः साहसपूर्णस्यास्य अनुष्ठानस्य महत्त्वपूर्णकालरूपेणैवावर्तन्त। यतस्तदैवास्याः शक्तिशालिन्याः परियोजनायाः आधारभूः स्थाप्यमाना परिपोष्यमाणा चासीत्। याः अस्मिन्कर्मण्यस्माभिः अनवरतं साधनानिरतैः समर्पिताः अगणिताभिस्ताभिः होराभिः एव संयुक्तेयं कार्यपरियोजना अभिनवमेव कमप्यायामवाप्तवती।

१९९५ तमे ख्रीस्ताब्दे यदायं संयुक्तपरियोजनाविषयको विचारः निश्चितं कमप्याकारमवापत् तदाहं तन्निर्देशकत्वेन आसम्। तदैव डॉ. कलामः (राष्ट्रपतिचरः प्रक्षेप्यास्त्रवैज्ञानिकश्च सुख्यातः) परामृशत् यत् भारतशासनसम्मत्याऽहं संयुक्तायाः अस्याः परियोजनायाः मुख्यकार्यकरणाधिकारित्वेन प्रबन्धनिदेशकत्वेन च नियोज्यै। यतोऽहं भारते क्रूजप्रकारकाणि प्रक्षेप्यास्त्राणि प्रबलं समर्थयन्नासं तथा च तदर्थमेव समर्पितां संयुक्तपरियोजनाञ्चेमां संघटयितुमारम्भादेव सततं कार्यनिरतः आसम् अतः स्वाभाविकरूपेणैवाहं कर्मणेऽस्मै चितः।

रसियादेशेन सह काऽपि संयुक्तपरियोजना सफला भवितुं नैवार्हिष्यति इत्यतो नेदृशं किमप्युत्तरदायित्त्वं मया अङ्गीकर्तुं युज्यते इत्येवं बहवो शासनाधिकारिणः शुभचिन्तकाश्च विचारयन्तः आसन्। पूर्वविखण्डितः सोवियतसङ्घः अतो विगतमहिम्नो रूसदेशस्य विगतशताब्द्याः अन्तिमे दशके अहरहः पतनोन्मुखिनी अर्थव्यवस्था च तान् तथा विचारयितुं प्रेरितवती। इतोऽपि विचारणीयतरमिदमासीत् यत् अस्याः प्राग्वर्तिनीनामन्यासां कासांचित् योजनानामनुभवाः अपि नोत्साहं वर्धयन्ति स्म, विशेषस्तासां यत्रोच्चतरा च काचित् प्रौद्योगिकी अपेक्ष्यमाणा आसीत् यतस्ताद्दश्यस्ताः उत्पादकोटिमानेतुं बहूनि सङ्कटानि शङ्क्यन्ते। पुनरपि राष्ट्रस्य पूर्ववर्तिभ्यः महद्भ्यो युगद्रष्टृभ्यो वैज्ञानिकभ्यो यन्मया शिक्षितं तन्नूनमेव मे साहाय्याय कल्पिष्यत इति अनया भावनया तुष्यन्नेवायं जनः आसीत्। डॉ. विक्रमसाराभाई- डॉ. सतीशधवन- डॉ. ए.पी.जे.

अब्दुलकलामाः एव तेषु यशस्विषु वैज्ञानिकेषु मूर्धन्यतमाः अवर्तन्त यैः प्रौद्योगिकीदृशा विकसितस्य भारतराष्ट्रस्य आधारभूः संस्थापिताः। तेषां साहाय्येनाहं मार्गेऽग्ने आशङ्क्यमानानि आह्वानानि सम्मुखीकर्तुं दृढं निश्चिनोमि स्म।

तैः युगद्रष्टृभिः नेतृत्वकर्तृभिरेका एतादृशी कार्यसंस्कृतिविकसिता यस्याः साहाय्येन इष्टसाफल्यप्राप्तिः सम्भवा आसीत्। यूनामभियन्तॄणां वैज्ञानिकानाञ्च लघुण्वप्युपलब्धिषु तान् प्रोत्साहयितुं तेषामद्भुत एव कश्चन पन्थाः अवर्तत भवन्तु नाम ते वैज्ञानिकाः कनीयसोऽपि कनीयसि पदे स्थिताः। ते महान्तो जनास्तेषां कनीयसां त्रुटीरपि एतावता म्रदिम्ना व्यज्ञापयन् येन शिक्षणं सरलमजायत। देशयोर्द्वयोः श्रेष्ठवैज्ञानिकमतीनामेकत्रीभूय मैत्र्या विश्वासेन च कर्मकरणद्वारा 'ब्रह्मॉस' इत्येतद् एकस्याः अभूतपूर्वायाः सफलतायाः कामपि गाथां निबद्धं शक्नोतीति द्रढीयान् विश्वासोऽवर्तत।

मया ब्रह्मॉसनिर्माणाय संयुक्तपरियोजनायाः अस्याः मुख्यकार्यकार्यधिकारित्वेन प्रबन्धनिदेशकत्वेन च कार्यभारो गृहीतः। अत्रायमभिप्रायो निहितः एवासीद् यन्मया द्विगुणमेवोत्तरदायित्वं निर्वहणीयमासीत्। रक्षानुसन्धानविकाससंस्थानस्य प्रक्षेप्यास्त्रपरियोजनानां मुख्यनियन्त्रकत्वं ब्रह्मॉसयोजनायाः मुख्यकार्यकार्यधिकारिप्रबन्धनिदेशकत्वञ्चेति इमे ते निर्वहणीये अवर्तेतां यथोभयोरनयोः हितानि परस्परं न संघट्टितानि भवेयुः। अद्यापि यदा ते दिवसाः मत्स्मृतिपटलमवतरन्ति तदाऽहमुद्गतरोमाञ्चः भवामि। परं व्यस्तदिनानां तेषां फलीभूताः स्मृती: निजमानसे सम्यक् संरक्षयितुमिहे।

अद्य विश्वस्मिन्विश्वे भारतरसियादेशयोर्मध्ये संस्थापितेयं संयुक्तपरियोजना अन्ताराष्ट्रियसैन्यसुरक्षासहयोगस्य श्रेष्ठोदाहरणरूपेण स्वीक्रियते प्रशस्यते च। विभिन्नानां प्रक्षेप्यास्त्रप्रौद्योगिकीनां कौशलानामेवंविधेन परस्परं विनिमयेन प्रक्षेप्यास्त्रमिदं स्वीयवर्गे विशिष्टतमस्त्रमभवत्। अस्याभिकल्पनात उत्पादपर्यन्तं वैज्ञानिकाः सततं साहाय्येन कार्यमकुर्वन्। अस्याभिकल्पनाविकासोत्पादनविपणनानि यावत् सर्वचरणेषु अनेन येऽनुभवाः अस्माभिर्राशीकृताः प्राप्ताः वा तेऽद्भुता: विस्मयकारिणश्च सन्ति। अद्य विश्वे नैक देशाः भारतात् ब्रह्मॉसप्रक्षेप्यास्त्रक्रयमभिकाङ्क्षन्ति येन ते स्वीयसैन्यदलानि शक्तिमत्तराणि कुर्युः। अनेनोत्कटेन शक्तिमता प्रक्षेप्यास्त्रेण यैः स्वसैन्यबलं संवर्द्धितं तेभ्योऽन्ये देशाः विभ्यति। ब्रह्मॉसपराध्वनिकक्रूजप्रक्षेप्यास्त्रम्

उत्कृष्टप्रविधिसाफल्यनिदर्शनं वर्तते यस्य समग्रं श्रेयः परियोजनायाः अस्याः संयुक्ताय नवाचारिस्वरूपाय च दीयते।

वयं ह्यमवलोकयामश्चेत् पूर्वं भारते गणितक्षेत्रे, विज्ञाने, अभियान्त्रिक्यां, प्रौद्योगिक्यां, चिकित्सायाम्, ओषधौ, संगीतविज्ञाने, ब्राह्मणविज्ञाने च अत्यन्ता उन्नता दशा आसीत्। बहुविधा: महत्त्वपूर्णा आविष्कारा अपि सञ्जाता परं दौर्भाग्यमेव तेषां समीचीनरीत्या किमपि लिखितं विवरणं न प्राप्यते। कदाचिदस्यायं हेतुः यत् कश्चिद् तमनुकृत्य तस्याविष्कारस्य दुरुपयोगं न कुर्यात्। अतीते काले आभियान्त्रिकीक्षेत्रे प्राप्तानां बहूनामीदृशानामुपलब्धीनां विवरणानि प्राप्यन्ते यानि ऐदंयुगीनेभ्य आविष्कारेभ्यः न्यूनतराणि कथमपि न सन्ति। तमिलनाडुप्रदेशे तिरुचिरापल्लीजनपदे स्थितो जलावरोधः अस्यापूर्वमुदाहरणम्। अयं जलावरोधः २००० वर्षाणि पूर्वं करिकालचोलराज्ञां काले निर्मितः। नभोमार्गात् प्रेक्षणेऽस्यस्वरूपं प्रस्तरैः अश्मचूर्णैः निर्मितस्य सर्पस्य वक्रगत्याकृतेः लक्ष्म इव दृश्यते। १८शताब्द्यां आङ्गलशासने यदास्य पुनर्निर्माणं जातं ततः सहस्राधिकवर्षात्पूर्वं तस्मिन् जलभण्डारणमक्रियत। अद्य कर्णाटके तमिलप्रदेशे च कावेरीनद्यां तस्याः सहावर्तीनीनां नदीनामुपरि निर्मितेन जलावरोधेन तत्र जलप्रवाहो न्यूनोऽभवत्। परं विगतकाले एभिर्विना जलप्रवाहः विनाशकरोऽभविष्यत्। अद्यापि विषयस्यास्य दक्षा अभियन्तारः एतस्य ज्ञानेऽसमर्थाः यत् तस्मिन्काले जलानां भीषणप्रवाहं विशालजलराशिं च नियन्त्रितुम् अन्यदिशि वा कर्तुं तत्कालीना अभियन्तारः कथं सफला अभविष्यन्। नूनमेवास्मिन् कर्मणि अपूर्वः कोऽपि मानवप्रयासः पशुबलसाहाय्यं च सहायकः अभवताम्। परमस्माकं पार्श्वे तस्य किञ्चिदपि विवरणं नास्ति यत् उपनिषद् अभियन्त्रणस्य इयदुत्कृष्टा उपलब्धि तत्कालीनैः जनैः कथं लब्धा। इत्थमेव देहल्यां कुतुबमीनारं निकषा स्थितः लौहस्तम्भः यश्च यवनेभ्यः पूर्वं ९१२ ई.पू. स्थापितः। अद्यावधि लौहविकारं विना अलाविधिः धातुविज्ञानक्षेत्रे कश्चन चमत्कार एव। अद्यापि किमपि लिखितं वृत्तं नो प्राप्यते येनेतद् ज्ञायेत यत् लौहस्तम्भे धातूनां मिश्रणस्य कोऽनुपातो येनेयता सुदीर्घकालेनापि लौहविकार: (जंग) नास्ति।

प्राचीने भारतवर्षे चिकित्सायां भेषजविज्ञानक्षेत्रे चापि अभूतपूर्वा प्रगतिश्चाजायत। एवं हि श्रूयते यत्तदानीमाचार्यः सुश्रुत ऐदंयुगस्य इव सुरूपचिकित्साम् अकरोत्। चिकित्सायां सिद्धपद्धत्यां दक्षाः विद्वांसः पारदरूखिसासदृशविषाक्तपदार्थानां

कुशलोपयोगेन कर्करोगसदृशानां भयङ्कराणां घातुकानाञ्च रोगानां चिकित्सामकुर्वन्। त एष विषयुतानां तत्वानामुपयोगमतिसूक्ष्मतमपरिमाणे चक्रुः येनेतद् ज्ञायते यत् सूक्ष्मतमा प्रोद्योगिकी भारताय नूतना नास्ति। एषामोषधीनां निर्माणाय एभ्यः विषयुतेभ्यः पदार्थेभ्यः निर्गतः दूषितो वायुः श्वासैः सह फुस्फुसेषु प्रविश्य प्राणघातकः भवितुं शक्नोति स्म। एभ्यः क्लेशेभ्यः आत्मानं रक्षितुं ते सिद्धाः चिकित्सकाः स्वीययोगकौशलमुपयुञ्जते स्म तदोषधीनां च निर्माणकाले अल्पकालाय निजप्राणान् अवरुन्धति स्म।

तैः त्यक्तेषु स्वल्पविवरणेषु ये रसायनयोगाः चर्चिताः तेऽद्य उन्नततरयुगेऽपि प्राप्तुमसम्भवाः। तेषामुल्लेखैरिदं ज्ञायते यत् तैः केचन असाध्यरोगाः अपि चिकित्सिताः परमेतत्सम्बद्धानि विवरणानि नोपलभ्यन्ते साम्प्रतम्। ईदृशस्य चिकित्सकीयस्य चमत्कारस्य साक्षी अहमपि वर्ते। निजायुषः दशमे वर्षे बालेन मया श्रीमन्तः आपत्तुकान्तपिल्लैवर्याः (परेषां त्राता), सिद्धचिकित्सापद्धतौ आयुर्वेदे योगे च दक्षाः मत्पितरः कर्कटव्याधिसदृशधातुकान् रोगान् उपचरन्तः दृष्टाः। परन्तु निजान्यसहयोगिनामिव तैरपि किमपि लिखितं विवरणं न त्यक्तम्।

प्रौद्योगिक्याः क्षेत्रे बहवः चमत्कारिण्य उपलब्धयः उल्लिखिताः प्राप्यन्ते परं पर्याप्तं विवरणं सर्वत्र अप्राप्यं वर्तते। अतीते भारतवर्षः स्वीयज्ञानस्य विस्तृतभण्डारेण समग्रविश्वे शिरोमणित्वमभजत। परं विगतसहस्रवर्षेभ्यः वैदेशिकानामाक्रान्तानामाक्रमणेन दासत्वस्य अन्धयुगे निमग्नः। अद्य वयं तस्याः दासत्वतमसोः बहिर्भूत्वा दूरमागताः। अस्माकं नैकेषां महतां नेतृणां यान्येषां भारतीयानां बलिदानेनेयं स्वतन्त्रतास्माभिरधिगता। परं राजधान्यामीदृशः कश्चित्स्मारकः नास्ति यस्तेषां महतां हुतात्मनां सम्मानस्य स्वतन्त्रतायाः महिम्नश्च प्रतीको भवेत्। सम्प्रति समृद्धमुन्नतिशीलञ्च भारतं प्रेक्ष्यास्माकीनो युववर्गः अत्यन्तमुत्सहते। परं तेऽस्माकं स्वतन्त्रतान्दोलनस्य क्लेशान् संघर्षान् देशस्यातीतं महत्त्वं च न विदन्ति। अतोऽस्माभिः स्वीयानामुपलब्धीनां कार्याणाञ्चैकं विस्तृतं विवरणं करणीयं येन राष्ट्रस्य युववर्गे राष्ट्रभक्तेः भावना उत्पद्येत।

वर्तमाने ब्रह्मॉसनिर्माणं काचिदसाधारणा उपलब्धिः। ब्रह्मॉसनिर्माणस्येदं कर्म शून्यादारब्धम् एकस्मात् जलयानरोधिप्रक्षेपास्त्रनिर्माणयोजनातः आरभ्य अस्माभिरिदमेकं सार्वभौमिकस्वरूपस्य प्रक्षेपास्त्रं निर्मितम्। अद्येदं बहुस्थानिक

बहुलक्ष्यकं बहुभूमिकायुक्तं बहुप्रक्षेपपथीयं प्रक्षेपास्त्रं वर्तते॥ एकदशकतोऽपि न्यूनकाले प्रक्षेपास्त्रमिदं स्वीयरूपाकारसंकल्पनातो सेनायामग्रपंक्तौ नियुक्तिस्थानं प्राप्नोत् श्लाघनीयम्। स्वीयेन वैशिष्ट्येन शक्त्या च ब्रह्मॉसप्रक्षेपास्त्रं विश्वेतिहासपृष्ठे अङ्कितमभवत्।

यदा अहं साफल्योत्सवं मानयन् युद्धपोते अरबार्णवे जले तरन् पश्चिमतरं भारतं यामि स्मः स्वीयदेशस्य ब्रह्मॉसप्रक्षेपास्त्रस्य च निर्माणस्य अतीतचिन्तने निमज्जामि स्म। तदैव युद्धपोतनायकः पोतस्य तटसमीपप्राप्ति मसूचयत्। पोतादवतीर्णोऽहं यावत्समीपे नौसेनापत्तनं प्राप्नोमि तावत् ब्रह्मॉसनिर्माणस्य स्वीयाननुभवान् पुस्तकरूपेण लिपिबद्धान् कर्तुं विचारो मे मनस्यतिष्ठत्। विवरणमिदं न सम्यक्नोपबद्धं चेदस्माकं प्रयासः प्रौद्योगिकी चोभौ भविष्ये विस्मृतिं गमिष्यतः लोके भविष्ये युवभिश्च पुनरयं प्रविधिः आविष्करणीयः भवेत्। अद्याहं ब्रह्मॉसविषये लिखितपुस्तकेन सह भवतां समक्षमस्मि तदिदं प्रक्षेपास्त्रं यस्य तुल्यमपरं प्रक्षेपास्त्रं साम्प्रतं आविष्कारमिच्छति।

अस्माकं पन्थाः कुत्रापि सुगमः नैवासीत्। अनुपयुक्तपूर्वाः काश्चनास्माकं कार्यप्रणाल्यः सर्वथा नवीनाः आसन्। आशासे यदिदं पुस्तकमास्माकीनानां भाविनां युगन्धरीणानां कृते अत्यन्तमुपयोगि भविष्यति तेषां पथि आगामिनीनां विघ्नानामपाकरणाय बाधासु च साहसप्रदानाय प्रेरणास्वरूपं भविष्यति।

अनया परिघटनया सम्बद्धं पुस्तकं "ब्रह्मॉस प्रक्षेपास्त्र की सफलता" लेखनस्य उद्देश्यमिदं यदिदं बहुषु जनसमवायेषु प्रचरेदतः मया प्रौद्योगिक्याः सूक्ष्माः जटिलताः नात्र चर्चिताः। इतो प्रक्षेपास्त्रस्यास्य रूपाकारसम्बन्धिनः महत्वपूर्णपक्षाः प्रदर्शनसम्बन्धिनश्च केचन पक्षाः अचर्चिताः ब्रह्मॉसप्रक्षेपास्त्रस्य भारते महत्त्वपूर्णस्थितिः तेषामचर्चायाः हेतुः।

अहं स्वीयाननुभवान् संभाजयितुम् एकस्याः सामुद्रिकयात्रायाः रूपकस्य प्रयोगमकुर्वम्। तस्यायं हेतुः यदस्य पुस्तकस्य आद्या अस्पष्टरूपरेखा मे मनसि सामुद्रिकयात्रावसर एवातिष्ठत्।

(पुस्तकस्यास्यार्यभाषानुवादं श्रीमतिमञ्जलिकालक्ष्मी अकरोत् यस्य लोकार्पणं विज्ञानपरिषद्प्रयागस्य डॉ. ए.पी.जे. अब्दुलकलाम सभागारे अक्रियत। पुस्तकस्य लोकार्पणवेलायां महान्तः भारतीयाः वैज्ञानिकाः डॉ ए. शिवताणुपिल्ले महाभागाः स्वयमुपस्थिताः आसन्। वेलेयं परिषत्कृतेऽपि अविस्मरणीया आसीत्।)



गुरुकुल प्रभात आश्रम, (टीकरी) भोलाझाल, मेरठ